

गुरुगोविंद सिंह त्यागिपथं प्रतिपत्ति

६३

डा. कुलदीपचन्द अग्निहोत्री



पुस्तक के बारे में

गुरु चिंतन मध्ययुगीन विष संक्रमण से उद्भूत, एक ऐसा ज्योति-कलश अमृत-कुंभ था जिसने उस संत्रास में सम्पूर्ण हिन्दू मानस को एक मृत्युंजयी शक्ति प्रदान की। कलैव्य, क्लान्त, रुग्ण भारतीय जन की शिराओं में उस अमृत दर्शन ने एक स्वस्थ रक्त का संचार किया। इसके आदि मन्त्रद्रष्टा गुरु श्री नानक ने सम्पूर्ण औपनिषदिक चिन्तन को लोक घरातल पर अवतरण दिया और इसी परम्परा के चरमबिन्दु गुरु श्री गोविन्दसिंह ने विशुद्ध हिन्दू दर्शन के लिए जन-जन में एक महान् सेतु रचना की।

गुरु श्री गोविन्दसिंह भारतीय चिन्तन के अन्यतम उन्नायक थे। रीति युगीन पंकिल भूमि से उदित यह सहस्रार कमल ही सनातन मूल्यों के सूर्य की आराधना में विसर्जित हो गया। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह अगम्भड़ा मर्द शीर्ष बिन्दु पर आसीन है। उस एक अद्भुत व्यक्ति ने हिन्दी के उन्नयन के लिए एक इतने बड़े संस्थान का अनुष्ठान किया जो विश्व में दुर्लभ है। उसके माध्यम से उन्होंने हिन्दू संस्कृति के वर्चस्व रूप को ही प्रतिष्ठित नहीं किया प्रत्युत अभिव्यक्ति की केन्द्रीय हिन्दी भाषा को गुरुमुखी लिपि का आचरण देकर केन्द्रीय और प्रान्तीय सामन्जस्य का एक नया भाषिक प्रयोग किया।

प्रस्तुत पुस्तक गुरु श्री के ऐसे ही अमृत व्यक्तित्व, ऋषि चिन्तन एवं जनमंगल से उत्प्रेरित सृजन धर्म के विश्लेषण को समर्पित है। डा० कुलदीप अग्निहोत्री ने आस्था के जिस घरातल पर यह कार्य किया है वह सर्वथा प्रशंस्य है।

—डा० चन्द्रशेखर

मा० इन्द्रश कुमार जी

को
सादर भेंट

कुलदीप

सादर पुस्तकालय
(संजीवनी साखा केन्द्र)

क्रमांक...

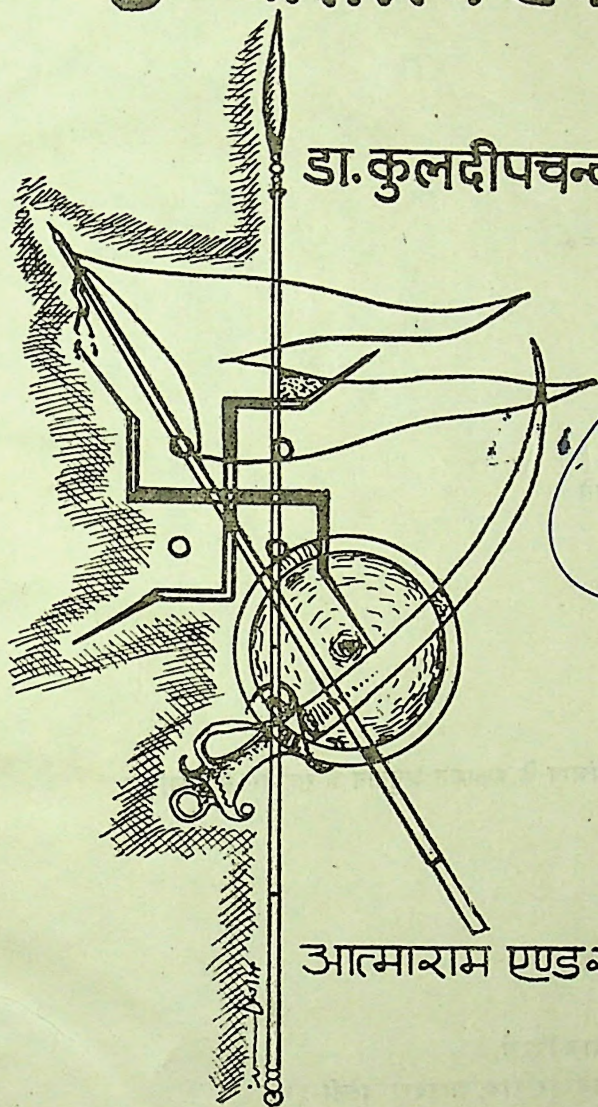
63

...

٤٢

गुरु गोविन्द सिंहः व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डा. कुलदीपचन्द अग्निहोत्री



214

आत्माराम एण्डसंस, दिल्ली

प्रकाशक :

आत्माराम एण्ड संस

कश्मीरी गेट, दिल्ली-११०००६

शाखा :

17 अशोक मार्ग, लखनऊ

संस्करण : १९८०

मूल्य : बीस रुपये

भाषा विभाग, पंजाब के प्रकाशन अनुदान के सहयोग से प्रकाशित

मुद्रक :

आर० के० भारद्वाज प्रिंटर्स,

शिवाजी पार्क, बाबरपुर रोड, शाहदरा दिल्ली-३२,

पुण्य सूक्तः पिता एवं धारयित्री मां

के पुण्य-चरणों में

सश्रद्ध प्रणति

कुलदीप

पुरोवाक्

हिन्दुस्थान् अनेक शताब्दियों तक पराधीनता के पाश में आवद्ध रहा है। काल के इस दुर्भाग्यपूर्ण खण्ड में भारतीयों को दोहरी मार सहनी पड़ी है— राजनैतिक स्तर पर भी और सांस्कृतिक स्तर पर भी। राजनैतिक पराजय को अपने यहां के व्यक्ति व समाज ने कभी महत्व नहीं दिया। 'कोऊ नृप होऊ हमें का हानि'... चाहे तुलसी ने बाद में कहा पर यह भावना हिन्दू समाज में आदि काल से विद्यमान थी। लेकिन जब जब किसी ने भारत की संस्कृति को क्षत-विक्षत करने का कुप्रयास किया, सारा राष्ट्र असाधारण रूप से सुसंगठित होकर प्रतिकार के लिए तैयार हो गया। गुरु नानक देव जी से लेकर गुरु गोविन्दसिंह जी तक की लम्बी यात्रा की यही मूल चेतना है। राजनैतिक रूप से तो गुरु नानक जी के काल खण्ड में भी हिन्दुस्थान पराधीन था। परन्तु गुरु जी ने कुछ एक अपवादों को छोड़कर कहीं भी विजातीय चुनौती को राजनैतिक घरातल पर नहीं स्वीकारा। उनका दर्शन, चिन्तन, मन्थन, आध्यात्मिक क्षेत्र की पूंजी है। परन्तु गुरु गोविन्दसिंह जी तक आते आते काल का चक्र बहुत आगे निकल चुका था। औरंगजेब सत्तारूढ़ तो था ही साथ ही उसने भारतीय संस्कृति व धर्म पर चोट करना प्रारम्भ किया और उसका जो परिणाम निकला वह स्वाभाविक ही था। गुरु नानक देव का आध्यात्मिक मार्ग गुरु गोविन्द सिंह जी के सैनिक मार्ग में परिवर्तित हो गया।

प्राचीन इतिहास का अवलोकन विभिन्न दृष्टिकोणों से होना आया है और होता रहेगा। परन्तु गड़बड़ तब होनी है जब इतिहास के किसी लोकप्रसिद्ध पात्र का केवल एक पक्षीय व्यवितत्व विश्लेषण किया जाता है। जब किसी पात्र के व्यवितत्व को सम्पूर्ण रूप से आलोकित न करके एकांगी रूप से प्रकाशित किया जाता है। भारतीय इतिहास के सर्वप्रसिद्ध व्यवितत्व गुरु गोविन्दसिंह जी के साथ भी ऐसा ही हुआ है। वे एक वीर सैनिक थे, कुशल सेनापति थे, दक्ष प्रशासक थे, अद्वितीय संगठनकर्ता थे परन्तु इसके साथ ही वे एक उच्चकोटि के साहित्यकार भी थे, और औपनिषदिक दर्शन के व्याख्याता भी थे।

हिन्दी साहित्य में रीतिकाल की बड़ी चर्चा है। उस काल की प्रवृत्तियां, व्यवस्था, परिस्थितियां, ये सभी शोधकर्ताओं के शोध का विषय बनी हुई हैं। रीतिकाल की अश्लीलता की भयंकर अमावस्या में भूषण का बार-बार स्मरण किया जाता है। यह उचित ही है। लेकिन आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि रीतिकाल के ही वीर रस के रस-सिद्ध कवि गुरु गोविन्दसिंह जी को क्यों भुला दिया जाता है। साहित्य के स्तर पर तुलना की जाए तो भूषण केवल कवि थे। युद्ध सम्बन्धी समस्त रचना उनके कला

कौशल का परिणाम है। वे स्वयं युद्ध-क्षेत्र में कभी नहीं उतरे। लेकिन गुरु गोविन्द सिंह के तो एक हाथ में तेग थी और दूसरे में कलम। उनकी वीर रस प्रधान कविता इस दृष्टि से सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है।

हर्ष का विषय है कि इधर कुछ समय से हिन्दी साहित्य में गुरु गोविन्दसिंह काव्य का भी अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भ हो रहा है। गुरु गोविन्दसिंह काव्य पर व्यापक रूप से शोध कार्य चल रहा है। 'गुरु गोविन्दसिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' इसी ओर एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत विश्लेषण और मूल्यांकन को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत शोध कार्य को अनेक खण्डों, उपखण्डों में विभाजित किया है।

व्यक्तित्व विश्लेषण के लिए सन्दर्भ और परिवेश की व्याख्या अत्यन्त अनिवार्य है। जिस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह लौह पुरुष उठा और जिन परिस्थितियों के स्पर्श से यह स्वर्ण बन गया उनका अपेक्षित विवेचन प्रथम अध्याय में किया गया है। वस्तुतः उन्होंने जिस युग को चुनौती दी थी उसका संक्षिप्त परिचय इस कार्य की अनिवार्यता है।

परिस्थितियों के सन्दर्भ में गुरु गोविन्दसिंह के व्यक्तित्व को मूल्यांकित किया गया है और व्यक्तित्व के सन्दर्भ में उनके साहित्य का अपेक्षित परीक्षण किया गया है। दूसरे और तीसरे अध्याय की रचना इसी दृष्टि से हुई है। वस्तुतः गुरु गोविन्द सिंह का व्यक्तित्व एक विषपायी नीलकण्ठ का व्यक्तित्व था। पंजाब भारत की ऐसी ध्वस्त झोढ़ी रहा है जिसका पददलन असंख्य आक्रमणकारियों ने आते जाते किया है। प्रत्यावर्तन का इतना भयंकर रूप शायद ही देश के किसी अन्य खण्ड ने देखा हो। इसी भूखण्ड से उठे विषमताओं के विष को गुरु गोविन्दसिंह ने ग्रहण किया और उनका व्यक्तित्व विराट हो गया। यह विराट व्यक्तित्व अपनी अनेक मुद्राओं में सामने आता है। एक ओर इसमें भारतीय गौरव, शौर्य, पराक्रम का अपराजेय रूप मिलता है। दूसरी ओर बलिदान और उत्सर्ग का महामहिम रूप मिलता है। साक्षात् वीर रस का रूप भी उनके व्यक्तित्व के माध्यम से मूर्तिमान हो उठता है। ऐसा कालजयी और मृत्युंजयी व्यक्तित्व पाकर भारतीय समाज और हिन्दी साहित्य धन्य हो उठा। द्वितीय अध्याय में इसी रूप की चर्चा की गई है।

श्री गुरु गोविन्दसिंह पहले महापुरुष थे जिन्होंने भारतवर्ष में विशुद्ध हिन्दू राष्ट्र की स्थापना हेतु न केवल घोषणा की बल्कि स्वयं आयुपर्यन्त उसके लिए संघर्षशील रहे। नैनादेवी के शक्तिपीठ में जाकर उन्होंने उद्घोष किया "सकल देश में खालसा पंथ गाजै, जगे धर्म हिन्दू समै द्वन्द्व भाजे।" इसे महज संयोग ही समझना चाहिये कि दशम गुरु ने हिन्दू राष्ट्र के लिए सेना निर्माण का कार्य वैसाखी दिवस को आनन्दपुर (पंजाब) में 'पांच प्यारों के परिवर्तन से प्रारम्भ किया और सुदूर महाराष्ट्र में अपनी इहलीला समाप्त की। उनके इस अधूरे अभियान को कालान्तर में डा० केशवराम बलिराम हैडगेवार ने १९२५ को विजयदशमी के पावन दिवस पर पांच

प्यारों^१ की सहायता से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना करके पुनः महाराष्ट्र से ही खड़ा किया जहाँ वे उसे छोड़ गए थे। डा० हैडगेवार जी ने एक बार पुनः दशम गुरु के अधूरे सूत्रों को संभाला और हिन्दू राष्ट्र के लम्बे यात्रा पथ पर चल पड़े। कहते हैं कि संघ स्थापना से पूर्व डा० हैडगेवार जी ने गुरु गोविन्दसिंह और उन पर उपलब्ध साहित्य का सांगोपांग अध्ययन किया था। वे नान्देड़ में उस स्थान को देखने भी गए थे जहाँ दशम गुरु ने अपनी जीवन लीला समाप्त की थी। महात्मा गान्धी जी ने भी रामराज्य नाम से गुरुजी के आदर्श हिन्दू राष्ट्र की स्थापना का एक पूर्ण ढांचा सुविचारित किया था। यह गुरु गोविन्दसिंह जी के व्यक्तित्व का धवल पक्ष है कि वे अपने आप में एक पूर्ण विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे जिसके लिए आज भी एक प्रकार से संघवाद (रा० स्वं से० संघ की विचारधारा) व गान्धीवाद प्रयत्नशील हैं। वास्तव में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा व गान्धीवाद को गुरु जी की उत्तराधिकारिणी घोषित किया जा सकता है।

भारतीय चिन्तन और मनन जब जब भी जन जीवन के यथार्थ से कटा है, तब तब उसमें असहजता आई है। इस अलगाव को दूर करने के लिए भारतीय मनीषा सदा ही प्रयत्नशील रही है। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि ने इस धारा को सहज और जन-व्यापी बनाने का ही प्रयत्न किया है। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन इसी अम्बुतथान के लिए होता है। भारतीय चिन्तन के विविध स्रोत यहाँ रुद्ध होते हैं वहाँ-वहाँ उनके मार्ग खोले जाते हैं। गुरु नानक ने ऐसा ही व्यापक जन-अभियान प्रशस्त किया और भारतीय चिन्तन के सरलतम सहजतम और शुद्धतम स्वरूप को प्रस्तुत करने का समारम्भ किया। श्री गुरु गोविन्दसिंह भारतीय संस्कृति व दर्शन के ऐसे ही व्याख्याता और भाष्यकार थे। तृतीय अध्याय के अन्तर्गत भारतीय चिन्तन के इसी रूप को प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत श्री गुरु गोविन्दसिंह जी के कृतित्व का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। उनकी कृतियों के कृतित्व के बारे में अनेक विवाद चलते रहे हैं। उनके दरबार में अनेक हिन्दी कवियों को प्रश्रय मिलता रहा है। इसलिए कुछेक विद्वानों की यह धारणा रही है कि दशमग्रन्थ की अनेक रचनायें विशेष रूप से पौराणिक कृतियाँ गुरु गोविन्द सिंह की रचनायें न होकर उन दरबारी कवियों की रचनायें हैं। परन्तु यह धारणा इसलिए संगत नहीं लगी कि गुरु गोविन्दसिंह जैसे क्रान्तिकारी कवि किसी अन्य की रचना को अपने नाम के अन्तर्गत क्यों स्वीकार करते। इसके अतिरिक्त गुरु गोविन्दसिंह केवल रूढ़ियों और पाखण्डों के विरोधी थे, पुराणों के नहीं। यदि वह एक ओर चण्डी के पौराणिक चरित्र को काव्य का विषय बना सकते हैं तो राम-कृष्ण जैसी देश की अनन्य विभूतियों को क्यों नहीं? इसके अतिरिक्त दशम ग्रन्थ की सम्पूर्ण रचनाओं में एक ही कवि व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। अतः डा० हरिभजन सिंह, डा० महीपसिंह, डा० चन्द्रशेखर, डा० धर्मपाल मैनी, डा० मन-मोहन सहगल, डा० प्रसिन्नी सहगल आदि की यह धारणा है कि ये सभी रचनायें

१. डा० हैडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रथम शाखा पाँच स्वयंसेवकों को लेकर प्रारम्भ की थी।

गुरु गोविन्द सिंह जी की है। दशम ग्रन्थ शोधक कमेटी ने भी यही निर्णय दिया है। परन्तु डा० रतनसिंह जग्गी आदि विद्वान पौराणिक रचनाओं को गुरु गोविन्दसिंह की रचना नहीं मानते। वस्तुस्थिति यह है कि विद्वानों की बहुत बड़ी संख्या इन सभी रचनाओं को गुरुगोविन्द सिंह की रचनायें ही मानती है और एक नगण संख्या इसके विपरीत सोचती है। प्रस्तुत शोध में बहुमत को ही स्वीकार किया गया है।

पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत अकाल पुरुष के स्वरूप का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। उसके गुणात्मक रूप के सन्दर्भ में उसके जो जो रूप दशम ग्रन्थ के भक्ति काव्य में उभरे हैं उनका सर्वांग विवेचन किया गया है। इस प्रकार दशम ग्रन्थ के अन्तरंग का दार्शनिक रूप और कथ्य की मूलात्मा का परीक्षण किया गया है।

मैं उन सभी अधिकारी विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनकी महत्वपूर्ण स्थापनाओं का प्रस्तुत शोध कार्य में परोक्ष और अपरोक्ष सहयोग लिया गया है। गुरु प्रवर डा० चन्द्रशेखर जी के स्नेह को मैं अपना मौलिक अधिकार समझता हूँ। विभागीय स्तर पर भी और व्यक्तिगत स्तर पर भी। लेकिन व्यक्तिगत स्तर पर एक खतरा भी रहता है। चड़ी हुई भुक्तियों के रूप में मुझे भी कई बार उसका सामना करना पड़ा है, परन्तु इसे भी मैं अपनी उपलब्धि ही मानता हूँ। वे पंजाब में गुरु साहित्य के अधिकारी विद्वान हैं। दरअसल कहना तो यह चाहिये कि सही अर्थों में गुरु वाणी की राष्ट्रीय सन्दर्भ में विवेचना ही उनके प्रयासों से प्रारम्भ हुई है। उन्होंने गुरु वाणी के गिर्द साम्प्रदायिक तत्वों द्वारा शताब्दियों से निर्मित दीवारों को साहस पूर्वक तोड़ कर इस सीमान्त राज्य में एक नई चेतना का प्रसार किया है। उनके इन प्रयासों ने गुरु वाणी के अध्ययन की अनेक नई दिशाएं खोली हैं। इन्हीं दिशाओं में मैंने आगे बढ़ने का प्रयास किया है। इसमें मेरे चिंतन का जो रूप प्रकट हुआ है उसमें भारतीय संस्कृति के विद्वान मूर्धन्य गुरुवर आचार्य धर्मपाल मैनी की महान प्रेरणा रही है। इस अवसर पर मैं उनके समक्ष प्रणम्य मुद्रा में नतशिर हूँ।

डा० पद्मगुरुचरण सिंह जी की सहायता के बिना शायद यह कार्य पूरा हो ही नहीं पाता। प्रो० शुभ लक्षण कुमार शर्मा, सतीश कुमार रम्पाल, शामलाल शर्मा, राकेश प्राशर, कृष्णचन्द्र आहुजा, रामसरन भारती, घनश्यामदास मानिकताह्ला व सुभाष प्राशर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मेरे प्रेरक रहे हैं। या यूँ कहिये कि मुझे पथ पर मिल कर धकेलते रहे हैं। सुदूर कनाडा में सतीशकुमार प्राशर जो अपनी निरन्तर अवहेलना से मुझे कुछ करने को उत्तेजित करते रहते हैं। इन सभी का धन्यवाद करना पाप करना होगा। अतः इस पाप से वचता हूँ।

दक्षिण पूर्वी एशिया प्रवास के समय हिन्दू दर्शन के महान व्याख्याता आचार्य करुणा कुशलासय का मधुर सम्पर्क मुझे प्राप्त हुआ था। उसने मेरे चिंतन को महत्वपूर्ण आयाम दिए हैं। मैं उनके प्रति अतीव आभारी हूँ।

—कुलदीप चन्द अग्निहोत्री

मुकुन्दपुर (पंजाब)

अध्यक्ष हिन्दी विभाग,

शिवालिक कालिज, नया नंगल

क्रम

	पृष्ठ
प्रथम अध्याय	गुरु गोविन्दसिंह : परिस्थितियों की पृष्ठभूमि राजनैतिक परिस्थितियां, धार्मिक अवस्था, साहित्यिक परिस्थितियां ।
द्वितीय अध्याय	गुरु गोविन्द सिंह—व्यक्तित्व १८
तृतीय अध्याय	गुरु गोविन्द सिंह—दार्शनिक विचारधारा ३१ भारतीय चिन्तन धारा एवं उपनिषदों में दर्शन जैन वैशेषिक, न्याय, सांख्य दर्शन, सिक्ख गुरुओं का चिन्तन, गुरु गोविन्द सिंह की चिन्तन धारा ।
चतुर्थ अध्याय	गुरु गोविन्द सिंह : कृति परिचय ५४ जापु साहिब, अकाल उसतती, विचित्र नाटक, चण्डी चरित्र प्रथम (उक्ति विलास), चण्डी चरित्र (द्वितीय), ज्ञान प्रबोध, चौबीस अवतार, शस्त्र नाम माला, चरित्रोपाख्यान, चण्डी दी वार, जकरनामा ।
पंचम अध्याय	ब्रह्म का स्वरूप ८४ निर्गुण, सगुण, सरब लोह, सरब काल, १ओंकार, श्रीपति, श्री भगवान-साहिब, दिवैया, हरि, ज्ञान, मानस की जात सबै एको पहिचानवो, देहरा मसीत सोई, दुष्ट गंजन, शत्रु भंजन, परम पुरुष प्रमाण, दीनन के प्रतिपाल । सहायक ग्रन्थों की सूची ।

गुरु गोविन्द सिंह : परिस्थितियों की पृष्ठभूमि

राजनैतिक परिस्थितियाँ

प्रत्येक युग के काव्य पर उस युग की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक परिस्थितियों की छाप अंकित रहती है। उस युग का चित्रण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से तत्कालीन काव्य में मिल जाता है। लेकिन समयुगीन परिस्थितियों से तटस्थ रहकर युग का अवलोकन करने वाला द्रष्टा काव्य को आत्मा प्रदान करने में उतना सफल नहीं हो पाता जितना कि उन परिस्थितियों में तिलतिल कर जीने वाला कवि व रचनाकार। यही अन्तर गुरु गोविन्द सिंह जी व समकालीन कवियों की रचना में स्पष्ट है। गुरु जी पूर्णतया परिस्थितियों व उत्तराधिकार में मिले उत्तरदायित्व की उपज थे। अतः उनके प्रत्येक क्रिया-कलाप पर तद्युगीन समस्याओं का अंकित होना अनिवार्य सा है। परन्तु इसके विपरीत गुरु जी के समकालीन कवियों के काव्य में तद्युगीन चित्रण क्यों नहीं है इसका कारण भी स्पष्ट है—“इस काल के सन्तों और कवियों को यह जानने की तनिक भी उत्सुकता नहीं है कि देश में राज्य किसका है। वे हरि भजन में मस्त हैं और जनता में भक्ति भावना का प्रचार कर रहे हैं। सदियों का संचित ज्ञान और धार्मिक अनुभूति जनता को उपलब्ध की जा रही है और जनता भी धार्मिक आवेश में मग्न है। उसमें भक्ति के लिए तो उत्साह है किन्तु विदेशियों को भगाने की तनिक भी चिन्ता नहीं है। तुलसीदास और राणा प्रताप कुछ समय के लिए समकालीन थे किन्तु तुलसीदास ने राणा प्रताप का नाम सुना था या नहीं इसका कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस काल में राजनीति अप्रमुख है। धर्म और संस्कृति प्रधान है। सन्त आसानी से कह देते हैं—”

सन्त को कहा सिकरों सों काम ?

आवत जात पनहियाँ टूटी बिसरी गए हरिनाम ।^१

गुरु गोविन्द सिंह का जिस समय जन्म हुआ, उस समय मुगल शासन अपनी राजनीतिक शक्ति के चरमोत्कर्ष पर था। अपने पिता को बन्दी बनाकर अपने भाइयों को मौत के बाट उतारकर स्वयं आलमगीर की उपाधि धारण कर औरंगजेब को मुगल भारत का सम्राट बने आठ वर्ष हो गए थे।^२ वास्तव में भारत का वातावरण औरंगजेब से बहुत पहले ही मुगलमय हो चुका था। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी से मुगल राजनीति अत्यन्त संकीर्ण व धर्मान्ध हो चुकी थी। भारतीयों को अनेक प्रकार से तंग किया

जा रहा था। उनकी आर्थिक स्थिति को निम्न स्तर तक लाने के लिए शासन की ओर से योजनाबद्ध ढंग से कार्य किया जा रहा था। हिन्दु धर्म को समाप्त करने के लिए धार्मिक स्थानों को अपवित्र किया जा रहा था। दिन के मन्दिर रात की मस्जिदें बन गईं। निर्धन हिन्दू जजिया की मार से दबाया जा रहा था। मुसलमानों के सामने उनका घोड़ों पर चढ़ना व साफ कपड़े पहनकर चलना वजित कर दिया था। राजमार्गों का उनके लिए निषेध था। इतने अत्याचारों के बाद भी हिन्दुओं को तलवार के जोर से इस्लाम में दीक्षित किया जा रहा था—“जिस समय औरंगजेब सिंहासनारूढ़ हुआ उस समय मुगल साम्राज्य सिंध के लहिरी बन्दरगाह से आसाम में सिलहट तक और अफगान प्रदेश के विस्त किले से लेकर दक्षिण में औसा तक फैला हुआ था। अपनी उदार नीति, दूर-दशितपूर्ण व्यवहार के कारण अकबर देश में शान्ति स्थापित करने में सफल हुआ था। यद्यपि जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से अपने पिता जैसा उदार नहीं था और अपने शासनकाल में उसने अपनी इसी असहिष्णुता के कारण सिक्खों के पाँचवें गुरु—गुरु अर्जुन देव जी का वध भी करवा दिया था परन्तु अपनी विलासी मनोवृत्ति के कारण उसने अपने आपको सुरा-सुन्दरी तक ही सीमित रखा।”³

भारत के दूसरे प्रान्तों की अपेक्षा पंजाब की स्थिति अधिक शोचनीय थी क्योंकि पंजाब सीमा पर स्थित होने के कारण आक्रमणों के सारे प्रहार पंजाब को ही झेलने पड़ते थे और इस कारण उसका प्रभावित होना भी अपरिहार्य ही था। भारत का यह प्रान्त अन्य सभी प्रान्तों से पहले ही पराजित हो चुका था। यह प्रदेश मुसलमानों की दो प्रबल राजधानियों दिल्ली व काबुल के बीच था। मुसलमानी राज्य यहाँ अत्यन्त दृढ़ता से जमा हुआ था। दूसरे धर्म को अपनाने की तरंग यहाँ जोर से चल चुकी थी और पंजाब में ही सबसे अधिक संख्या ऐसे लोगों की थी जिन्होंने अपना धर्म छोड़कर इस्लाम स्वीकार कर लिया था। हिन्दू मन्दिरों को गिराकर बराबर कर दिया गया था और हिन्दू पाठशालाओं तथा मन्दिरों की जगह मस्जिदें खड़ी कर दी गई थीं अर्थात् हिन्दू गौरव के समस्त चिह्न मिटा दिए गए थे।⁴

मुगलों के इन अत्याचारों के युग की जो दूसरी कष्टदायी बात है, वह यह कि इस समय कोई हिन्दू राजा ऐसा नहीं था जो डटकर उनका सामना कर सके। साहस की कमी के कारण जो वचे-खुचे हिन्दू राजा थे वे भी हिन्दू शक्ति का एकत्रीकरण करने की बजाय मुगल शासन की कृपा-दृष्टि प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे। अपवादों को छोड़कर राजस्थान का इतिहास इसका प्रमाण है। हिन्दू राजा आपस में ही क्षुद्र स्वार्थों के लिए या थोथे अभिमान में आकर लड़ते रहते थे। एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए वे मुगलों से मदद लेने व उनको मदद देने में भी संकोच नहीं करते थे। राष्ट्र की कोई स्पष्ट कल्पना इन रजवाड़ों में नहीं थी। अपने संकुचित और संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण प्रायः मुगलों के सहायक बने रहते थे। पहाड़ी राजे इसके साक्षी हैं। वे गुरुजी के क्रिया-कलापों में सहायक होने की बजाय सदा रोड़े अटकाते रहे। स्वयं तो वे गुरु जी से युद्ध करने के लिए कटिबद्ध रहते ही थे, यहाँ तक कि औरंगजेब को भी गुरु जी पर प्रहार करने के लिए समय-समय पर आमन्त्रित करते रहते थे।

उस युग के हिन्दू राजा गोरखशून्य हो चुके थे। कोई उच्चादर्श तो उनमें था ही नहीं और मिथ्याभिमान उनमें इस मात्रा तक था कि जहाँ मुगलों की जी हज़ूरी करना, उनका मनसब स्वीकार करना और उन्हें झुक-झुककर सलाम करना वे अपना गौरव समझते थे, वहीं दूसरी ओर हिन्दू जागरण के सभी प्रयासों को कुचलने में मुगलों की सहायता करने में वे सदैव तत्पर रहते थे। शिवाजी को अपने चारों ओर के मराठा सरदारों के सतत विरोध का सामना करना पड़ा और जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह तथा आमेर के मिर्जा राजा जय सिंह उन्हें दवाने दक्षिण गए।^{१८} बुन्देलखण्ड के अनेक राजाओं ने छत्रसाल का विरोध करते हुए मुगल सेना के साथ होकर उनसे युद्ध किया। पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों के राजा तो गुरु गोविन्द सिंह का सदा विरोध करते रहे और बार-बार पत्र लिखकर औरंगजेब को उनके विरुद्ध चढ़ाई करने के लिए प्रेरित करते रहे।

सत्ता स्पर्धा इतनी बढ़ी कि नैतिकता की सभी सीमाएँ टूट गईं। “अगर दिल्ली का औरंगजेब पिता को कैद कर सकता था तो मारवाड़ का अमर सिंह अपने पिता की हत्या भी कर सकता था।”^{१९}

“गुरु गोविन्द सिंह का जन्म देश की उन राजनैतिक परिस्थितियों में हुआ जब अकबर द्वारा प्रस्थापित राजनैतिक शान्ति पूरी तरह नष्ट हो चुकी थी। औरंगजेब की धार्मिक नीति के कारण देश में हिन्दुओं के अन्दर प्रतिरोध का भाव जाग्रत हो रहा था। पंजाब और महाराष्ट्र में संघर्ष का सूत्रपात भी हो चुका था। गुरु गोविन्द सिंह ने केवल नौ वर्ष की आयु में ही दिल्ली में अपने पूज्यपिता का वलिदान होते देखा था। इस अवोध-सी लगने वाली आयु में उन्होंने गुरु गद्दी का वह गुरुतर भार संभाला जो दिल्ली के मुगल शासन की आँखों में काँटे की तरह खटक रही थी। देश के अनेक भागों में हिन्दू उस अन्यायी शासन के विरुद्ध सिर उठा रहे थे। विशाल और शक्ति सम्पन्न मुगलवाहिनी बढ़ी क्रूरतापूर्ण उन विद्रोहों का दमन कर रही थी। उस दमन के परिणामस्वरूप उस विद्रोहाग्नि पर कुछ समय के लिए राख पड़ती किन्तु समय पाकर अन्दर छिपी चिनगारी फिर उमड़ पड़ती।”^{२०}

धार्मिक अवस्था

कलि काते राजे कसाई, धरमु पंख कर उड़रिया।

फुडु अमावस सचु चन्द्रमा दोस नार्हीं कहि चड़िया ॥

हउ माल विकुन्ती होई, आधेरै राहु न कोई ॥

अर्थात् कलियुग कटार के समान है, राजे कसाई हैं और उनके राज्य में धर्म पंख लगाकर उड़ गया है। चारों ओर असत्य की अमावस छायी हुई है। उसमें सत्य का चन्द्रमा कहीं उदय हुआ है दिखाई नहीं देता। जीव उस अन्धरे में सत्य की खोज करता हुआ भ्रमित घूम रहा है। अन्धकार में कोई मार्ग नहीं सूझता। लगभग कई युगों की शाश्वत धार्मिक अवस्था का यह सजीव वर्णन गुरु नानक देव जी ने किया है। इसमें आग

सम्पूर्ण युग की, जिसे दशम गुरु व उसके बाद तक स्वीकार कर लिया जाएगा, का गहराई से दिग्दर्शन हुआ है।

“इस प्रकार उस युग में जब चारों ओर धर्म का ढोल पूरे जोर से बजाया जा रहा था, धर्म के वास्तविक स्वरूप की हत्या करना ही सबसे बड़ा धर्म समझा जा रहा था। नैतिक तथा बौद्धिक ह्रास के इस युग में धर्म की उदात्त भावना पूर्ण रूप से समाप्त हो गई थी। धर्म का उद्देश्य होता है व्यक्ति और समाज के नैतिक स्तर को उच्च बनाना तथा जनता में लौकिक संघर्षों से टक्कर लेने की शक्ति उत्पन्न करना। परन्तु उस काल में धर्म के नाम पर भी अनेक विकृतियाँ ही अवशिष्ट रह गई थीं। उस युग में अन्धविश्वास, रूढ़ियों का अनुसरण तथा बाह्याडम्बरों का पालन ही धर्म की परिभाषा थी। ईश्वर और खुदा की प्रेरणामयी भावनाओं के स्थान पर पंडितों और मुत्लाओं का स्थूल और लौकिक अस्तित्व स्थापित हो गया था, जिनकी सम्मति और वाणी अन्धविश्वास से युक्त अशिक्षित जनता के लिए वेदवाक्य अथवा खुदा की आवाज का काम करती थी। यही नहीं ईश्वर और खुदा के प्रतिनिधि एक दूसरे को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते थे। अतः दोनों में समझौते की भावना का पूर्णतः अभाव हो गया था।”^{१८} समग्र रूप से विचार करने पर पता चलता है कि समस्त मुगल शासक ही धर्मान्ध, साम्प्रदायिक व सीमित दृष्टिकोण वाले थे। जहाँगीर ने गुरु अर्जुन देव का वध करवाया। अकबर हिन्दू राष्ट्र के स्वप्नद्रष्टा महाराणा प्रताप को समूल नष्ट करने के लिए आयुपर्यन्त प्रयत्नरत रहा। मन्दिरों को ध्वस्त करना, खुले आम गऊ हत्या करना, हिन्दुओं को खड्ग के बल से इस्लाम में दीक्षित करना, संस्कृत ग्रन्थों को जलाना, ब्राह्मणों का अपमान करना, उनको निर्दोष ही मौत के घाट उतार देना, हिन्दू युवतियों का बलपूर्वक अपहरण करना उनसे बलात्कार करना, हिन्दू सुन्दरियों को मुगल हरमों की शोभा बनाना, हिन्दू उत्सव मनाने की मनाही व उनको भंग करना—ये तो प्रायः सभी मुगल शासकों के शासन काल के सामान्य क्रिया-कलाप रहे हैं।

इसके साथ-साथ धर्म के नाम पर अनेक कुरीतियाँ चल पड़ी थीं। धर्म के नाम पर लोग दुकानें चलाने लगे थे। धर्म के बाहरी स्वरूपों को स्वीकार करके भी हिन्दू समाज तथा मुस्लिम समाज कुमार्ग पर चलते थे। माथे पर तिलक लगाने वाले, गंगा स्नान करने वाले, गऊ पूजा करने वाले व दोनों समय पूजन-हवन करने वाले भी मुसलमानों के आगे नत-मस्तक होते थे व अपनी आँखों के सामने गो वध होता देखते थे। भाग्यवाद के सिद्धान्त को विकृत करके सारा हिन्दू समाज अकर्मण्यता की गोद में चुपचाप सो रहा था। इस्लाम के प्रतिरोध का कार्य अपने भगवान पर छोड़ दिया था। धर्म की वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को सम्प्रदायों की कोठरियों में कैद कर दिया गया था।

पड़ि पुस्तकं संधिया वादं ।

सिल पूजसि कगुल कणुल समाधं ।

सुखि भूठ विभूखण सारं ॥

अर्थात् पुस्तकें पढ़ते हैं, सन्ध्या करते हैं। किन्तु उस सन्ध्या के वास्तविक रहस्य

को नहीं समझते। पांडित्य प्रदर्शन के निमित्त वाद-विवाद में रत रहते हैं। पाषाण की पूजा करते हैं और बगुले की भांति झूठी समाधि लगाते हैं। सच्ची समाधि के आनन्द से बहुत दूर हैं। दिखावा मात्र समाधि का दम्भ भरते हैं। मुख से झूठ बोलकर लोहे के गहने को सोने का दिखाते हैं।^६ इसी प्रकार गुरु गोविन्द सिंह जी तद्युगीन धर्म के बाह्याडम्बरों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं—

ध्यान लगाई ठगिओ सब लोगन, सीस जटा नख हाथ बड़ाए ।
लाई बिभूत फिरयो मुख उपरि देव अदेव सब उहकाए ॥
लोभ के लागे फिरयो घर ही घर जोग के न्यास सब बिखराए ।
लाज गई कछु कामु सरयो नहि प्रेम बिना प्रभु पात न आए ॥^{१०}

ऐसी बात नहीं कि धर्म के क्षेत्र में हिन्दू समाज का ही इतना पतन हुआ हो। वास्तव में मुसलमान समाज भी धर्म के नाम पर जर्जर व विभक्त हो चुका था। केवल सत्ता का आश्रय होने के कारण उसका ऊपरी दवाव बना हुआ था। शिया सुन्नी नाम के दो वर्ग तो उनमें प्रचलित थे ही; पीर, पैगम्बर, औलिया, मुल्ला आदि नामों से उनमें भी अनेक भेदों का निर्माण हो चुका था। काजी और मुल्ला भी त्यागमय जीवन छोड़कर विलासी बन गए थे। कुरान व नमाज का पाठ कर लेने मात्र को ही उन्होंने धर्म का नाम दे रखा था। धर्म आस्था के स्थान पर उनमें धन आस्था की, शासन से अधिक से अधिक लाभान्वित होने की प्रवृत्ति घर घर गई थी। हिन्दुओं पर अत्याचार करना व उनको बलात् इस्लाम में लाना ही मुसलमान अपना धर्म समझ रहे थे। मस्जिदों का निर्माण व मन्दिरों का विध्वंस ही मौलवियों की दृष्टि में इस्लाम की प्रगति का सूचक बन गया था।

“उस समय की राजनैतिक स्थिति की भयंकरता, सामाजिक व्यवस्था की अस्त-व्यस्तता एवं धार्मिक बाह्याडम्बरता तथा रूढ़िग्रस्तता के कारण देश विषमवस्था में था। देश में दो वर्ग थे—एक तो शासकों का और दूसरा शासितों का। दोनों की मानसिक अवस्थाएँ पृथक्-पृथक् थीं। शासकों में अहंभाव की प्रधानता आ गई थी। उनकी अहंमन्यता अपनी चरमसीमा को पहुँच चुकी थी। यह अहमन्यता इतनी बढ़ी हुई थी कि शासितों के राजनैतिक अस्तित्व को स्वीकार करने में भी अपना अपमान समझते थे। दूसरी ओर शताब्दियों के अत्याचार, अपमान और राजनैतिक दासता के फलस्वरूप हिन्दू अपना शौर्य, आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास खो बैठे थे। धर्म का वास्तविक स्वरूप लुप्त सा हो गया था। मुसलमानों के बलात् धर्म परिवर्तन एवं हिन्दुओं में मानसिक कमजोरी के कारण बाहरी आडम्बरों की प्रबलता आ गई थी।”^{११}

सामाजिक अवस्था

लम्बे असें तक मुगलों का साम्राज्य भारत में रहने के कारण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का नाम मात्र रह गया था, उस पर मुस्लिम सामाजिकता हावी हो चुकी थी। वर्णाश्रम व्यवस्था का जितना विकृत स्वरूप इस युग में प्रकट हुआ शायद भूत-भविष्य में कभी नहीं हुआ। वर्ण का कर्म सूचक महत्व समाप्त हो गया था। वर्ण जाति पर आधारित

हो गया था और प्रत्येक वर्ण के बीच में भेद की अभेद्य दीवारें खड़ी हो गईं। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार हिन्दू धर्म कछुआ धर्म बन गया था। हिन्दू समाज अपने आपको खोल में सिकोड़कर सीमित हो गया। जातियों में आगे अनेक उप-जातियाँ निर्मित हो गई थीं। उनमें द्वेष भातना चरमसीमा तक पहुँच गई थी। मुगलों से संघर्ष करने की बजाय आपस में संघर्ष करना वे सुविधाजनक समझते थे। एक जाति की नीचता प्रदर्शित करने के लिए दूसरी ने अनेक कहावतें बना रखी थीं, जैसे—

- (क) जिसका बनिया यार, उसे दुश्मन की क्या दरकार।
- (ख) खत्री पुत्रम् कभी न मित्रम् जब मित्रम् तब दगा दगा।
- (ग) पीताम्बर छाजौ, सावत भलौ न टाट,
और जात शत्रु भली, मित्र भला नहीं जाट।
- (घ) कायथ, कुरकुट, कौआ, तीनों जाति पोसीआ।
- (ङ) वामन, कुत्ता, हाथी, आपन जाति न साथी ॥

इस प्रकार भारतीय समाज अनेक घर्षों, उप वर्गों में बुरी तरह विभाजित था। उनमें आपस में घृणा, द्वेष का विषैला वातावरण बना हुआ था। स्त्री की स्थिति उस सीमा तक पहुँच गई थी जिससे नीचे और पतन हो ही नहीं सकता था। उसका अस्तित्व पति के साथ ही था। पति से अलग उसका कोई व्यक्तित्व नहीं था। उसे गृहलक्ष्मी नहीं गृहदासी समझा जाता था। वह केवल मात्र इन्द्रिय भोग-विलास की कुंजी बनकर रह गई थी। उसमें भी कोई चेतनता स्पन्दित हो रही है, ऐसा पुरुष के लिए सोच पाना ही कठिन हो गया। स्त्री समाज पर्दा प्रथा से बुरी तरह ग्रस्त था। मुसलमानों की बुरका प्रथा ने हिन्दू समाज की तारी को घूँघट और घर की चारदीवारी में कैद कर लिया। स्त्री की डोली विवाह के समय घर में आती और मृत्यु के समय उसकी अर्धी घर के बाहर जाती है—इसका समाज में प्रचलन था। दूसरी ओर समाज का धनी वर्ग अपने ही एक अलग वर्ग में रह रहा था। मुगलों की जी हजुरी करके उसने सामाजिक प्रतिष्ठा का कृत्रिम व निन्दनीय लबादा ओढ़ लिया था। इनका अपने जातियों से ही बहुत बुरा व्यवहार रहता था। अपने वर्ग में और समाज से दूर रहकर ये पूँजीपति वर्ग विलासिता में मग्न था।

राजमहलों में उस समय वैभव व विलासिता का साम्राज्य छाया हुआ था। जीवन का दृष्टिकोण मात्र लौकिकता रह गया था और स्त्री सुख परम सुख बन गया था। समाज के सभी जीवन मूल्य पूर्णतया नष्ट हो चुके थे। विलासिता के नद में डूबा हुआ समाज उसमें से बाहर निकलने की कल्पना को भी कष्टदायक मानने लगा था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह विलासिता व वैभव सारे समाज को ग्रसित किये हुआ था। विलासिता का यह अभिशाप या वरदान केवल पूँजीपति वर्ग तक ही सीमित था। और इस वर्ग में हिन्दू-मुस्लिम समान थे। इस वर्ग और निम्न वर्ग का इतना सम्बन्ध ही था कि अमीरों के विलास के लिए यह सारा धन निर्धनों के गाढ़े खून-पसीने की कमाई से आता था।

उस युग का हिन्दू समाज बीच में से पूर्णतया खोखला हो चुका था। समाज की वह श्रेष्ठता जिसके सहारे शताब्दियों से अपना समाज सरलतापूर्वक चल रहा था समाप्त हो गई थी—

“उस समय पंजाब के हिन्दू समाज में ऐक्य की भावना का अभाव था। मुख्यतः सम्पूर्ण हिन्दू जनता चार वर्णों में विभक्त थी और वे वर्ण भी आगे कई शाखाओं उप-शाखाओं में विभक्त थे। मुसलमानी धर्मान्धता तथा बलपूर्वक मुसलमान बनाने की प्रवृत्ति ने वर्ण धर्म को और भी संकीर्ण कर दिया था। ब्राह्मणों का ब्रह्मतेज मुसलमानों के सामने तो अवश्य घुटने टेक चुका था किन्तु स्वदेशीय शूद्र भाई के लिए उसके शमित तेज की भस्म में दह्यमान चिंगारी अभी विद्यमान थी। सम्पूर्ण समाज निराधार अंध विश्वासों और रूढ़ियों के पाश में दम तोड़ रहा था। लोगों में सदाचारहीनता की भावना घर कर चुकी थी। स्त्री भी दासी और विलासिता की साधन मात्र रह गई थी।¹² लेकिन यदि गहराई से विचार किया जाए कि इस सामाजिक अवमूल्यन का कारण क्या था तो स्पष्ट हो जाएगा कि मुसलमानों की धर्मान्धता व कट्टरपंथता के कारण ही हिन्दू समाज को अपने को सीमित कोठरियों में बन्द करना पड़ा ताकि रक्त की शुद्धता बनी रहे—

“राजनैतिक धर्मान्धता का सामाजिक संघटन पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। मुसलमान शासकों ने धर्म परिवर्तन के कई अस्त्र निकाले, जिनमें यात्रा कर, तीर्थ यात्रा कर, धार्मिक मेलों, उत्सवों और जलूसों पर कठोर प्रतिबन्ध, नये मन्दिरों के निर्माण तथा जीर्ण मन्दिरों के पुनरुद्धार पर रोक, हिन्दू धर्म और समाज के नेताओं का दमन, मुसलमान होने पर बड़े-बड़े पुरस्कार देने आदि मुख्य थे। इन्हीं अस्त्रों द्वारा वे लोग हिन्दू धर्म को सर्वथा मिटा देना चाहते थे।”¹³

इन अत्याचारों का परिणाम तत्कालीन जनता पर बहुत अधिक पड़ा। हिन्दुओं का अनुदार वर्ग और अधिक अनुदार बन गया। वे अपनी सामाजिक स्थिति के रक्षण हेतु और भी अधिक सचेष्ट हो गए। इसका परिणाम हिन्दू मात्र के लिए अत्यन्त भीषण सिद्ध हुआ। हिन्दुओं का एक वर्ग असहिष्णु, अनुदार और संकीर्ण हो गया। अपने को विधर्मों प्रभावों से बचाना, उसका श्रेय हो गया। युग-धर्म, लोक-धर्म से पराङ्मुख हो, ब्राह्मणों के कवच से अपने को सुरक्षित रखना यही उनका सबसे बड़ा प्रयास सिद्ध हुआ। उनकी यह पराङ्मुखता अन्य धर्मावलम्बियों तक ही सीमित नहीं रही बल्कि अपने सह-धर्मियों के साथ भी व्यापक रूप से परिलक्षित हुई। इसी कारण सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो उठी। हिन्दुओं का वर्णाश्रम धर्म कहने मात्र को रह गया। ब्राह्मण अपनी दैवी सम्पदा को त्यागकर, पाखंडपूर्ण धर्म में रत हो गए। इसी प्रकार क्षत्रिय गण अपने स्वाभाविक शौर्य को त्यागकर मुगल शासकों की जी हजुरी करने लगे। ब्राह्मण अपनी भाषा और संस्कृति के प्रेम को त्यागकर उदरपोषण के निमित्त अरबी फारसी के अध्ययन में रत हुए। हिन्दू धर्म पर केवल मुसलमानों का ही अत्याचार नहीं था बल्कि हिन्दुओं का अत्याचार उससे भी अधिक था। शूद्रों को नीचतम वर्ण समझा गया। उच्च वर्ण वालों ने उन्हें सारे अधिकारों से वंचित कर दिया। वेदों और शास्त्रों का अध्ययन उनके लिए त्याज्य बताया गया। अन्त्यजों की दशा तो और भी शोचनीय थी। वे मंदिरों में देवताओं के दर्शन से भी बहिष्कृत किये गए। उनकी छाया के स्पर्श मात्र से उच्च वर्ण के हिन्दुओं का शरीर अपवित्र हो जाता था।”¹⁴

जातिगत मिथ्याभिमान इस सीमा तक बढ़ चुका था कि पहाड़ी राजे गुरु गोविन्द

सिंह के खिलाफ प्रायः इसलिए ही लड़ते रहते थे कि गुरु जी ने समाज के शूद्र वर्ग को बाकी सभी के समान खड़ा कर दिया था। सभी को एक स्थान पर लंगर छाकाया था। इनको भी अन्य वर्गों की भांति खालसा पंथ में दीक्षित किया था। चाहे ये शूद्र लोग अधर्मी के विरुद्ध लड़ने के लिए ही खड़े हुए थे लेकिन जाति गत अभिमान में अन्धे हुए पहाड़ी राजे इन शूद्रों के गुरु, गुरु गोविन्द सिंह को मजा चखाने के लिए औरंगजेब की सहायता करने को भी तैयार हो गए।

साहित्यिक परिस्थिति

गुरु गोविन्द सिंह का रचना काल हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक काल विभाजन की दृष्टि से रीतिकाल में आता है। इस काल में जैसा कि सर्वविदित ही है सामाजिक स्थिति के अनुकूल ही शृंगारिक काव्य रचना की प्रमुखता रही। कवि अपने आश्रयदाता की प्रशंसा व झूठे वड़प्पन पर ही कविता लिखा करते थे। शासकों को विलासिता की ओर ले जाने में इनका भी अच्छा खासा योगदान रहा है। ये कवि लोग तद्युगीन परिस्थितियों से निर्लेप रहकर राजनीति से तटस्थ रहकर कामुकता को अपना विषय बनाकर काव्य रचना करते रहे। आश्चर्य होता है कि शाहजहाँ का पतन व औरंगजेब का सत्तारूढ़ होना—देश में इतना बड़ा राजनैतिक परिवर्तन हुआ, लेकिन समकालीन कवियों—विहारी, देव, कुलपति, आदि की कविता में इसका कहीं संकेत मात्र भी नहीं मिलता। ये लोग नायक-नायिका भेद में ही दत्तचित होकर लगे रहे। स्त्री के सुन्दर अंगों की छवि को निहारते रहे। दरअसल उस समय के कवियों के लिए काव्य रचना आत्म संतुष्टि या समाज हित का साधन नहीं था बल्कि उनके लिए जीविकोपार्जन का साधन-मात्र था। इसलिए आश्रयदाता की इच्छानुकूल उन्हें प्रसन्न रखने के लिए वे सुरा-सुन्दरी को काव्य बनाने में परिश्रम रत रहे। काम की जितनी उपासना इस युग में हुई भारतीय साहित्य के किसी युग में ऐसा नहीं हुआ। अश्लीलता की पराकाष्ठा हो गई। इस युग के कवियों के लिए विश्व में केवल एक चेतन की ही प्रधानता रह गई और वह थी स्त्री, कविता, ललित। स्त्री का भी एकांगी स्वरूप ही सामने रहा। केवल नवयौवना सुन्दरी, प्रेमिका व पति का स्वरूप। स्त्री माता-बहिन भी होती है—यह जैसे इस काल के कवियों ने धिक्कुल भुला दिया।

“इस काल के कवियों में से जिन्होंने स्थापित छोटे-छोटे राज्यों में आश्रय ढूँढा जैसे चिन्तामणि ने मुगल सम्राट् शाहजहाँ और चित्रकूट के राजा रुद्रसाहि सोलंकी के दरबार में, विहारी और कुलपति ने जयपुर के दरबार में, मतिराम ने बूंदी और देव ने औरंगजेब के पुत्र आजमगढ़ और राजा भोगीलाल आदि के पास, वे कवि तो शृंगारिक रचनाएँ करते रहे या रीति ग्रन्थ लिखते रहे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कवि भी थे जिन्होंने मुगल राज्य के विरोधी केन्द्रों में आश्रय ग्रहण किया। इन केन्द्रों के नायक उस समय विधिवत राजा नहीं थे परन्तु उनका परिवेश और उनके दरबारों का रंग-ढंग राजाओं जैसा ही था। औरंगजेब के शासन काल में शिवाजी, छत्रसाल और गुरु गोविन्द सिंह इस प्रकार के प्रमुख नायक थे और उनके आश्रय में उस काल की प्रचलित परम्परा

के प्रतिकूल भूषण, लाल और सेनापति आदि कवि वीर रस पूर्ण रचनाएँ लिख रहे थे। सम्पूर्ण देश पर जिस समय संकट छाया हुआ था, हिन्दुओं के मान को हिन्दू नष्ट करते आ रहे थे, उनका बलात् धर्म परिवर्तन किया जा रहा था, उन्हें आर्थिक दृष्टि से तोड़ देने के लिए उन पर नये कर लगाए जा रहे थे, ऐसे समय में विलासी और गौरव शून्य राजाओं के दरबारों की शोभा बढ़ाते हुए ये श्रृंगारी कवि नायिका भेद की सूक्ष्मतम परिभाषाएँ करते हुए श्रृंगार को रसराज सिद्ध करने में लगे हुए थे। केशव ने तो श्रृंगार को केवल रसों का नायक ही घोषित किया था परन्तु देव ने तो मूल रस श्रृंगार ही माना और वीर तथा शान्त आदि मुख्य रसों को भी अन्त में श्रृंगार में ही लीन कर दिया था। विहारी सांसारिक भोग और ऐश्वर्य को ही जीवन का चरम लक्ष्य मान रहे थे। ऐसी परिस्थिति में कुछेक कवियों ने उन नायकों के पास आश्रय ढूँढा जो काव्य रसिक तो थे ही परन्तु उनकी यह रसिकता उनमें काम तीव्र करने की उपेक्षा उत्साह तीव्र करने की ओर अधिक थी और ऐसे जन-नायकों में गुरु गोविन्द सिंह प्रमुख थे। उनमें कवियों के आश्रय-दाता होने और स्वयं सिद्ध कवि होने का अद्वितीय संयोग था।^{१५}

सन्दर्भ

१. संस्कृत के चार अध्याय : डॉ० रामधारी सिंह दिनकर, पृ० २७०
- २-३. गुरु गोविन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीप सिंह, पृ० २-३
४. ट्रांसफारमेशन आफ सिखिज्म, पृ० २८
५. शिवाजी : जदुनाथ सरकार (हिन्दी संस्करण), पृ० ६४
६. रीतिकार्य की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७
७. गुरु गोविन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीप सिंह, पृ० ५
८. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग), पृ० १७
९. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब : आसा दी वार, पृ० ४७१
१०. बाणी गुरु गोविन्द सिंह : सम्पादक—प्रेमप्रकाश सिंह, पृ० ३०८
११. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन : डॉ० जयराम मिश्र, पृ० ४६
१२. दशम ग्रन्थ की पौराणिक पृष्ठभूमि : रत्नसिंह जग्गी, पृ० १८६
१३. इवोल्यूशन आफ खालसा १ : इन्दुभूषण वैनर्जी, पृ० ४३-४४
१४. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन : डॉ० जयराम मिश्र, पृ० ४३-४४
१५. गुरु गोविन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीप सिंह, पृ० १५-१६

गुरु गोबिन्द सिंह : व्यक्तित्व

पूर्वकाल

सम्राट् हर्षवर्धन अन्तिम हिन्दु सम्राट् माना जाता है। उसके राज्यकाल के उपरान्त भारत पर विदेशियों के आक्रमण होने प्रारम्भ हो गए थे। भारत की सशक्त केन्द्रीय व्यवस्था भंग होनी शुरू हो गई थी। परन्तु ये आक्रमण न तो योजनाबद्ध रूप से किए जाते थे और न ही इनका कोई स्थायी महत्व आंका जा सकता है। भारत में राज्य स्थापना और इस्लाम धर्म के प्रसार की उद्दाम इच्छा को लेकर आक्रमण करने वालों में बाबर का नाम इतिहास की अग्रिम पंक्तियों में लिखा जाता है। बाबर द्वारा भारत के कुछ भू-भाग पर अपना आधिपत्य जमाने के बाद मुस्लिम शासन की यहाँ लम्बी परम्परा चली जिसमें हुमायूँ, अकबर, जहांगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब का अधिकांश योगदान रहा। शासन के इस लम्बे युग में भारत की अपनी सभी श्रेष्ठ व्यवस्थाएँ, विचारधारा, चिन्तन, दर्शनादि कुण्ठित होकर रह गए। समाज की समूची व्यवस्था जर्जर हो गई। आर्थिक दृष्टि से समाज को विभाजित कर दिया। हिन्दुओं को सभी दृष्टियों से संत्रस्त किया गया। सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में हिन्दुओं का बहुमत होते हुए भी उनकी अवस्था शोचनीय हो गई। उन पर तरह-तरह के अत्याचार किये गए। उनको द्वितीय श्रेणी के नागरिक या गुलाम समझा जाने लगा। मन्दिरों को स्थान-स्थान पर गिराकर उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ। हिन्दू समाज का मनोबल गिराने के लिए देवी-देवताओं का अपमान करना शुरू किया गया। हिन्दू समाज को सर्वथा अरक्षित कर दिया। हिन्दुओं के धार्मिक मेलों व त्योहारों का मनाना बन्द कर दिया गया। संस्कृत के अध्ययन को अवरुद्ध करने की चेष्टा शासकीय स्तर पर की जाने लगी। धार्मिक ग्रन्थों को जलाया जाने लगा व गऊ-हत्या को प्रोत्साहित किया जाने लगा। हिन्दुओं का शक्तिपूर्वक, लोभ व भय से धर्म परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। हिन्दुओं को उनके राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। उनके लिए व्यवसाय बन्द कर दिए गए। समाज में हिन्दुओं की प्रतिष्ठा घटाने के लिए उनको घुड़सवारी में प्रतिबन्धित किया जाने लगा।

आर्थिक दृष्टि से भी हिन्दू समाज को अति निम्न वर्ग में पहुँचाने में शासन ने कोई कसर नहीं छोड़ी। हिन्दुओं की सम्पत्ति को राजाज्ञा से जन्त करना आम बात हो गई। शासकीय नोकरी के लिए हिन्दुओं को अयोग्य ठहरा दिया गया। सभी स्थानों पर

उनकी भर्ती रोक दी गई। मुसलमानों को बड़ी-बड़ी जागीरें देकर आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठ बनाया जाने लगा। हिन्दुओं पर अन्यायपूर्वक अनेक प्रकार के अतिरिक्त कर लगाए गए। इस प्रकार मुगल शासकों ने, अपवाद को छोड़कर, आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओं को निम्न वर्ग में पहुँचा दिया।

सामाजिक क्षेत्र में भी हिन्दू व्यवस्थाओं को सप्रयास भंग किया जाने लगा या स्वयं काल के प्रवाह से उसमें बृष्टियाँ आ गई थीं। जाति-पाति की व्यवस्था कर्मपरक न होकर जन्मपरक बन चुकी थी। समाज में ऊँच-नीच का रोग व्याप्त था। शूद्र लोगों को समाज में अति हीन समझा जाने लगा था। स्त्री की अवस्था भी दयनीय हो उठी थी। 'यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' केवल अतीत की कहानी बन गई थी। मुसलमान समाज की देखा-देखी हिन्दू समाज में भी नारी घर की चारदीवारी के अन्दर बन्द कर दी गई और उसे केवल सम्भोग का साधन मात्र समझा जाने लगा। हिन्दू समाज की श्रेष्ठता केवल इतिहास की सामग्री बनती जा रही थी।

मुस्लिम शासकों की न्याय व्यवस्था भी एकदम हिन्दुओं के प्रतिकूल थी। न्याय व्यवस्था कुरान के अनुसार संचालित की जाती थी, जिसके व्याख्याकार मुसलमान इतर प्रत्येक प्राणी को काफिर के नाम से जानते थे और काफिर को दोज़ख पहुँचाना इस्लाम की सर्वोत्तम सेवा मानते थे। हिन्दू युवतियों के सम्मान के साथ खेलना उनकी न्याय व्यवस्था के व्याख्याकारों के अनुसार जन्नत का मार्ग खोलना था। इन सभी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व न्याय व्यवस्थाओं के अन्दर भारतीय पिस रहा था, घुट-घुटकर दम तोड़ रहा था। अपमान के घूँट पी रहा था या फिर इस्लाम मजहब को कबूल कर रहा था।

अशान्ति की अव्यवस्था का यह वातावरण सन् १५०० से १७०० तक व उससे आगे के इतिहास का स्मरण है। परन्तु इस काल की एक सौभाग्यशाली आश्वयंजनक बात यह रही कि इस लम्बे काल में अत्याचारों व संघर्षों की कहानी समानान्तर चलती रही। प्रत्येक काल खण्ड में मुगलों के इन अत्याचारों व अन्यायों को ललकारने वाला कोई न कोई आता रहा। फिर चाहे उसे शीश कटवाना पड़ा, चाहे बालू पर तपना पड़ा। बाबर से प्रारम्भ हुए मुगल शासन के साथ ही पंजाब में गुरुओं की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने प्रत्येक स्तर पर मुसलमानों का सामना किया—आध्यात्मिक स्तर पर भी और सैनिक स्तर पर भी। इस परम्परा के पहले गुरु नानक देव जी बाबर के समकालीन थे और अन्तिम व दशम गुरु गोविन्द सिंह जी औरंगजेब के समकालीन थे। गुरु नानक ने तो वास्तव में आध्यात्मिक क्षेत्र में ही विचार मन्थन किया था, परन्तु ज्यों-ज्यों मुगल शासकों के अत्याचार बढ़ते गए त्यों-त्यों पंजाबियों में आध्यात्मवाद के साथ-साथ शौर्य-वाद व सैनिकवाद भी प्रवेश पा गया। मुगल राजाओं द्वारा भी गुरुओं पर क्रूरता का चक्र तेजी से चलता रहा।

सिक्खों की इस ऐतिहासिक गुरु परम्परा में नवें स्थान पर श्री गुरु तेगबहादुर जी का नाम आता है। गुरु तेगबहादुर जी भी गुरु परम्परा को निभाते हुए कुंठित, ग्रसित, शोषित व निम्न वर्गों के लिए सारी आयु संघर्ष करते रहे। शासकों के अन्याय व

अत्याचारों के विरुद्ध सदा छाती ठोककर खड़े होते रहे। दलितों के लिए गुरु जी सदा तत्पर रहते थे। दुःखी जनों के कष्ट निवारणार्थ गुरु तेगबहादुर जी सदा आगे रहे। देश के जिस कोने से भी गुरु जी ने दलितों की पुकार, दुःखियों की आह सुनी, तुरन्त गुरु जी वहाँ उपस्थित हुए। उत्तर हो या दक्षिण, पूर्व हो या पश्चिम, जिस स्थान पर भी भारत के लोगों को—मुसलमानों ने संतप्त किया वहीं उन्हें गुरु जी की तेग की धार सहनी पड़ी। समाज भलाई के इस कार्य में गुरु जी ने गृहस्थी के मोह व घर-बार की बातों को कभी मार्ग में नहीं आने दिया। गुरु तेगबहादुर जी कर्तव्य को सदा मोह से ऊँचा समझते थे। पुत्र जन्म के समय पिता की अनुपस्थिति का भी यही कारण था। सन् १६६५ में गुरु तेगबहादुर जी पूर्वी भारत की यात्रा पर थे। परिवार उनके साथ ही था। लेकिन पटना पहुँचकर उन्हें अपनी अर्धांगिनी को वहाँ छोड़ना पड़ा। क्योंकि उसकी कोख से विश्व का महानतम बालक जन्म लेने वाला था लेकिन स्वयं गुरु जी पटना में नहीं ठहरे। वे ठहर भी नहीं सकते थे क्योंकि सुदूर पूर्व से आ रही दलितों की आहें उन्हें स्वयंमेव खींच रही थीं। धर्मपत्नी को वहीं पटना में व्यवस्थित करके आगे बंगाल, उड़ीसा व आसाम की ओर चल पड़े। बंगाल, असम में स्थान-स्थान पर औरंगजेब द्वारा हिन्दू मन्दिरों का विध्वंस किया जा रहा था। हिन्दुओं को तंग करने के लिए तरह-तरह के शाही फरमान निकाले जा रहे थे। उन पर भाँति-भाँति के कर लगाए जा रहे थे। गुरु तेगबहादुर जी पूर्वी भारत के इन आंचलों में दिन-रात भ्रमण करते रहे। दुःखियों के व्यथित हृदयों को धैर्य बँधाया। अत्याचारी को चुनौती दी और उसका मान मर्दन किया।

इधर जब गुरु तेगबहादुर जी धर्म की रक्षा हेतु रण क्षेत्र में अरि दल से जूझ रहे थे, उन्हीं दिनों २३ पौष विक्रमी सम्बत् १७२३ को पाटलिपुत्र (पटना) में आपके घर एक पुत्र रत्न का जन्म हुआ, जिसने आगे चलकर विश्व को दिव्य ज्योति से अभिभूत कर दिया। यही बालक गुरु गोविन्द सिंह के नाम से जाना गया।

‘होनहार विरवान के होत चीकने पात’—महापुरुषों के लक्षण पहले से ही दीखने लगते हैं। बादलों की लालिमा भयंकर वर्षा की सूचना दे देती है। आकाश की स्वच्छता भानु की प्रचण्डता की साक्षी दे देती है। सरिता की नीलिमा उसकी अगाधता की द्योतक होती है। शैशव की चपलता भावी जीवन की महानता व कर्मठता को इंगित कर देती है। पर इंगित को पहचानता कौन है ?

बाल कृष्ण ने पूतना व कंस का वध कर दिया था। राम ने तपोवन को राक्षसों से मुक्त कर दिया था। वचपन के कृत्य आने वाले जीवन की महानता के लक्षण होते हैं। गुरु गोविन्द सिंह जी वचपन में ही विलक्षण थे। समवयस्कों का नेतृत्व करते हुए तरह-तरह के खेल खेलना, धनुष बाण से लक्ष्य सन्धान करना, नकली दुर्ग बनाकर उन्हें नष्ट करना, शिशु सैनिकों के साथ संचालन करना और सबसे अधिक मातृभूमि की पराधीनता की कसक मन में लिए फिरना और बाल सैनिकों में भी राष्ट्र निष्ठा की वह्नि प्रज्ज्वलित करना—पाटलीपुत्र का कौन पुत्र बाल गोविन्द की इन वीरोचित क्रीड़ाओं से मुग्ध नहीं हो जाता होगा ? परन्तु गुरु तेगबहादुर को अपने आत्मज गोविन्द की बाल

लीलाएँ देखने का समय साढ़े तीन वर्ष बाद ही मिला जब वे अपने पूर्वी प्रवास से पटना वापिस पहुँचे। पिता-पुत्र का ऐतिहासिक मिलन हुआ। तेगवहादुर जी की यह प्रथम व चिर प्रतीक्षित सन्तान थी और फिर मिलन भी पूरे तीन वर्षोंपरान्त हो रहा था। वात्सल्य का सागर उमड़ आया। स्नेह की तरंगें तरंगायित होने लगीं। परन्तु वात्सल्य के इस अमृततुल्य रस का पान गुरु तेगवहादुर जी के भाग्य में बहुत कम लिखा था। पाटलीपुत्र में बहुत कम समय रहकर तेगवहादुर जी शीघ्रातिशीघ्र अपने केन्द्रीय स्थान आनन्दपुर की ओर प्रस्थान कर गए। वहाँ जाकर उन्होंने अपने परिवार को भी पंजाब में ही बुला लिया।

बाल गोविन्द के पाटलिपुत्र से विछुड़ने का दुःखद क्षण आ गया। मानो काल का चक्र एक बार अपनी धुरी पर घूमकर पुनः वृन्दावन से हटकर पाटलीपुत्र पहुँच गया हो। आनन्दपुर मथुरा बन गया हो। कृष्ण वियोग का दृश्य उपस्थित हो गया। सारा पाटलीपुत्र अव्यवस्थित हो गया। पाटलीपुत्र का कृष्ण पाटलीपुत्र छोड़कर औरंगजेबी कंस की आनन्दपुरी मथुरा को प्रस्थान कर रहा था। अब पाटलीपुत्र अपने बाल गोविन्द की लीलाओं को कैसे निहार सकेगा। धनुष से लक्ष्य सन्धान कौन करेगा? अपनी बाल वीरोचित क्रीड़ाओं से कौन सभी को विमोहित करेगा? परन्तु नियति बड़ी प्रबल होती है। ब्रजवासियों के समस्त स्नेह, गोप बालाओं के करुण रोदन व गऊओं के मलिन चेहरों को छोड़कर जब कृष्ण मथुरा को चले ही गए थे तो बाल गोविन्द पाटलीपुत्र में कैसे रह सकते थे। सम्बन्धियों के साथ गोविन्द राय आनन्दपुर की ओर चल पड़े। पंडित शिवदत्त का इष्ट देव चला गया। फतेहचन्द की रानी का नयन तारा चला गया। पाटलीपुत्र का तो सर्वस्व ही मानों लुट गया। पाटलीपुत्र से बाराणसी, प्रयागराज, अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, अम्बाला, कीरतपुर होते हुए गुरु तेगवहादुर जी का परिवार मार्गशीर्ष २१ सम्बत् १७२६ को आनन्दपुर पहुँचा।

आनन्दपुर में गुरु तेगवहादुर जी ने अपने पुत्र को पंजाबी, हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी पढ़ाने का यथायोग्य प्रबन्ध किया। सैनिक शिक्षा देने के लिए अलग शिक्षक नियुक्त किये। अश्वारोहण, लक्ष्य सन्धान, खड्ग प्रहार, तैराकी इत्यादि कलाओं में पारंगत शिक्षक आपको सैनिक शिक्षा देने के लिए नियुक्त किए गए। गोविन्द राय की शिक्षा अच्छी प्रकार चलने लगी। परन्तु गोविन्द राय के भाग्य में पिता की छत्रछाया अधिक देर तक नहीं लिखी थी। सम्पूर्ण हिन्दुस्थान अज्ञान था। अत्याचारों का दौर चल रहा था। धर्म परिवर्तन का चक्र अपने पूरे वेग से घूम रहा था। इस्लाम का कवच धारण करने पर ही रक्षा सम्भव थी। हिन्दू विरोधी इस वातावरण से हिन्दू विचलित हो गया। परन्तु फरियाद किसके आगे करे। कौन सहोदरघाती औरंगजेब को चुनौती दे सकेगा? कौन पिता के हत्यारे औरंगजेब को ललकार सकेगा? औरंगजेब का विकराल शासन तन्त्र चल रहा था पूरे जोर से, पूरे वेग से। काश्मीर के ब्राह्मण अत्याचारों के इस अनिल से झुलसकर आनन्दपुर आये, गुरु तेगवहादुर जी के पास फरियाद लेकर, औरंगजेब के पापों का हिसाब लेकर। पिता के पास पुत्र भी बैठा था। वह इन ब्राह्मणों की उत्सुकता के साथ देख रहा था। ब्राह्मणों ने अत्याचारों की लम्बी

गाथा बताई। अकल्पनीय अत्याचारों की यथार्थता का बोध कराया। धर्म परिवर्तन की मदान्धता का वेग बताया। हिन्दू जाति पर हो रहे अत्याचारों को सुनकर गुरु तेग बहादुर गम्भीर हो गए। आँखें अपने आप बन्द हो गईं। गम्भीर विचार में लीन हो गए। गोविन्दराय एकटक उनके मुख की ओर देखते रहे। एक क्षण, दो क्षण, तीन क्षण—गोविन्दराय ने मौन तोड़ा—“पिताजी आप इतने चिन्तित क्यों हो गए हैं? हिन्दुओं पर हो रहे अत्याचारों को सुनकर आप मौन क्यों हो गए हैं। बोलिए पिताजी।” पुत्र बाणी सुनकर पिता ने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। चेहरा तेज से अभिभूत हो रहा था। सम्पूर्ण दृष्टि पुत्र के मुख पर जमाते हुए पिता बोले—“नहीं बेटा मैं मौन नहीं था। परन्तु इन अत्याचारों को बन्द करवाने के लिए किसी महान् आत्मा के वलिदान की आवश्यकता है, किसी महान् आत्मा के।” तो आपसे महान् कौन हो सकता है पिताजी?—गोविन्दराय एकदम बोल उठा बिना एक क्षण का विलम्ब किए। पिता जिस बात को इतने समय से सोच रहे थे, पुत्र ने एक क्षण में उसका निर्णय कर दिया। पिता ने पुत्र को छाती से लगा लिया। इस समय गोविन्दराय की आयु केवल साढ़े आठ वर्ष की थी। इतनी कम आयु में इतने महान् त्याग का उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता। इस दुर्दान्त एवं भयावह संकट काल में सिक्ख जाति का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व गोविन्दराय के सशक्त कन्धों पर छोड़कर नगरवासियों को धैर्य बंधाकर गुरु तेगबहादुर जी दिल्ली की ओर चल पड़े। वह दिल्ली, जहाँ से औरंगजेब का खूनी शासन चहुँ दिशाओं में फैलता था। जहाँ से अत्याचारों की अग्नि प्रज्ज्वलित होकर सम्पूर्ण भारत को झुलस रही थी। इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) कभी धर्मपरायण पांडवों की राजधानी रहा, आज वह म्लेच्छों की आमुरी क्रीड़ा का प्रांगण बना हुआ था। असुरों से लोहा लेने गुरु तेगबहादुर जी दिल्ली पहुँच गए। ११ मार्गशीर्ष सम्बत् १७२३ को दिल्ली के चाँदनी चौक में औरंगजेब ने गुरुजी को शहीद करवा दिया। इतिहास के एक अध्याय का अन्त हो गया। लेकिन संघर्षों के कई लम्बे अध्यायों का मार्ग वह खोल गया। पापों का घड़ा पूर्ण रूप से भर गया और उसे जोर से ठोकर लगाने वाला भी कर्मक्षेत्र में आ गया। पिता चला गया परन्तु अत्याचारी का शिरोच्छेदन करने के लिए पुत्र रणक्षेत्र में कूद पड़ा।

आनन्दपुर साहिब को हो गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया। आपका वास्तविक नाम गोविन्दराय था परन्तु बाद में अमृत पान के अवसर पर आपने अपना नाम गोविन्दसिंह रखा। अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र एकत्रित किए जाने लगे। दूर-दूर से युद्ध प्रेमियों ने गुरु जी की सेवा में अस्त्र-शस्त्र, घोड़े, हाथी भेजने शुरू कर दिए। अनेक प्रकार के नगारे, दुंदुभियाँ, तोप, तलवारों का केन्द्र आनन्दपुर बन गया। शस्त्र-शिक्षण की विशेष व्यवस्था की गई। प्रातःकाल शंख बजाये जाने लगे। इस सारे वातावरण ने आनन्दपुर व देशवासियों के हृदय में नव-स्फूर्ति का संचार किया। सम्मान अंगड़ाई लेने लगा। रिपु दल से दो-दो हाथ करने की चाह बलवती होने लगी। मातृभूमि पर मर मिटने की कसक जगने लगी। इन सभी गतिविधियों का केन्द्र आनन्दपुर साहिब बना। गुरु गोविन्दसिंह अत्याचारी से लोहा लेने चल पड़े।

गुरु जी का पहला संघर्ष पहाड़ी राजाओं से हुआ। पहाड़ी राजा इस बात से

बहुत खिन्न हो रहे थे कि गुरु गोविन्द सिंह ने सभी जातियों को एक समान कर दिया है। सभी लंगर में भोजन करते हैं। शूद्र तथा निम्न जातियाँ भी ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के समान व्यवहार करती हैं। इन सभी बातों से चिढ़कर पहाड़ी राजे, जिनमें मुख्य रूप से कहिलूर का राजा भीमचन्द व कांगड़ा का राजा कृपालचन्द था, गुरु जी से उलझ पड़े। बाद में जब औरंगजेब का अधिकारी मियाखाँ विशाल सेना लेकर इन पहाड़ी राजाओं से कर लेने आया तो गुरु गोविन्द सिंह ही इन पहाड़ी राजाओं की सहायता को आगे आये और शत्रुओं को नाकों चने चवा दिए। परन्तु पहाड़ी राजाओं की कृतघ्नता सीमा पार कर गई। जब उन्होंने स्वयं तो औरंगजेब से क्षमा माँग ली और युद्ध का सारा उत्तरदायित्व गुरु गोविन्द सिंह पर ठोस दिया यही नहीं दिलावर खाँ के साथ मिलकर रात्रि को आनन्दपुर साहिब पर आक्रमण कर दिया। परन्तु दिलावर खाँ की सेना गुरु जी के रणजीत नगरे की भीम ध्वनि सुनकर ही मैदान छोड़ गई। पहाड़ी राजाओं के साथ गुरु जी का यह वाद-विवाद जल्दी ही समाप्त हो गया। पर एक दूसरा विवाद चलता ही रहा। लम्बा संघर्ष मृत्यु पर्यन्त चलने वाला। यह संघर्ष था आततायी से संघर्ष, आक्रामक से संघर्ष।

“मेरी असि पाँच शिरों का रक्तपान करना चाहती है, संघर्ष को चलाने के लिए, खालसा पंथ की नींव रखने के लिए”—गुरु गोविन्दसिंह जी ने सम्बत् १७५६ के वैशाखी के ऐतिहासिक पर्व पर आनन्दपुर साहिब में एकत्रित हुए सहस्रों नर-नारियों के सम्मुख सिंह गर्जना की। उपस्थित जन समुदाय में सन्नाटा छा गया। सभी स्तब्ध रहकर गुरु जी की ओर देखने लगे। परन्तु तभी सारी संगत की दृष्टि घूम गई। लवपुर का दया राम दरवार में तनकर खड़ा हो गया। गुरु जी की आँखों में आँखें डालकर उसने देखा और दरवार आश्चर्यचकित रह गया। गुरु जी उसे दरवार के पश्चिम भाग में ले गए और रक्तरंजित असि लेकर पुनः बोले, “दूसरा ?” दिल्ली का धर्मचन्द खड़ा था। इसी प्रकार द्वारिका का मोहकमचन्द, जगन्नाथपुरी का हिम्मत राय, विदर का साहिब चन्द वारी-वारी दरवार के पश्चिम भाग में जाते रहे और गुरु जी प्रत्येक बार दरवार में आकर रक्त-स्नात खड्ग का प्रदर्शन करते रहे। इस लोमहर्षक दृश्य से पूरा समुदाय स्तब्ध था। थोड़ी देर बाद उन पाँच सिक्खों के साथ गुरु गोविन्दसिंह जी दीवान के मंच पर आए। वे परस्पर आत्मसात् और आत्मभूत हो चुके थे। शिरों पर पीत उष्णीष, अभ्र वर्ण आपाद परिधान, कमर का काषाय कटिवस्त्र, खड्गधारी, हिंसित कक्षवस्त्र, निमीलित पाणियुगल, अवन्त लोचन और कांतिमान मुख मंडल—ये पाँच सिक्ख ऐसे लगते थे कि अकाल सुत गुरु गोविन्दसिंह जी से जैसे एकाकार हो गए हों। ये पाँच प्यारे हैं, इनकी जाति, कर्म, गोत्र, कुल, वर्ण, स्थान सब कुछ विलुप्त हो गया है। सभी वीरासन हो बैठ गए। अमृत तैयार किया गया। आदि ग्रन्थ की वाणियाँ पढ़ी जाने लगीं। गुरु जी ने पाँचों प्यारों को अमृत छकाया और उन्हें सिंह सजा दिया। बाद में स्वयं उनके हाथों अमृत पान किया और सिंह बने। गुरु जी गोविन्दराय से गोविन्द सिंह बन गए। गुरु जी ने इन्हें खालसा की उपाधि से विभूषित किया और सिंहों के लिए पाँच वस्तुओं कछहरा, कड़ा, कृपाण, कंधा, केश का निर्देश दिया। खालसा के बारे में गुरु जी ने

लिखा—

खालसा मेरो सतगुरु पूरा ।
खालसा मेरो सज्जन सूर ।।
खालसा मेरो बुध घर जान ।।
खालसे का हौं धरो ध्यान ।।
हौं खालसे को खालसा मेरो ।
श्रोत पोत सागर बुन्देरो ।।

इतिहास में यह पहला उदाहरण मिलता है जब गुरु ने शिष्य को भी अपना गुरु माना हो। शताब्दियों से चली आ रही जाति-पाँति पर यह एक घोर चोट थी, जब सभी जातियाँ ऊँच-नीच, छूत-अछूत, स्वर्ण-अस्वर्ण का भेद त्यागकर एक पंथ में दीक्षित हुई हों। सदियों की दीवारें टूट गई, हृदय के बन्धन खुल गए। अमावस का समय बीत गया। सारा समाज रणक्षेत्र बन गया। प्रत्येक प्राणी सैनिक बन गया। दलित रक्षा हेतु खालसा पंथ अभेद्य कवच बन गया।

उसके बाद सारा जीवन ही संघर्षमय हो गया। रणक्षेत्र ही कर्म-क्षेत्र बन गया। अश्वपीठ ही शैय्या बन गई। एक के बाद एक युद्धों की लम्बी शृंखला चलती रही। कभी पहाड़ी राजाओं से, कभी मुगल सेनापतियों से। छोटी-मोटी मुठभेड़ें तो प्रायः रोज ही हुआ करती थीं। परन्तु सन् १७०१ में पहाड़ी राजाओं ने औरंगजेब के दो सेना-नायकों सैदा खाँ और दीना बेग की अध्यक्षता में गुरु गोविन्द सिंह पर आनन्दपुर पर धावा बोल दिया। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। भयंकर शरवर्षा से मुगल सेना आक्रान्त हो गई। संख्या में अधिक होते हुए भी उसकी हवाईयाँ उड़ने लगीं। दोनों सेनानायक घायल हो गए। शत्रु सेना भाग निकली। गुरु सेना ने बड़ी दूर तक उसका पीछा किया। पहाड़ी राजे हतोत्साहित होकर अपनी रियासतों को लौट गए। परन्तु पराजित होकर भी वे चुप न बैठे। गुरु जी की बढ़ती शक्ति उन्हें शूल की भाँति चुभती थी। गुरु जी ने दीन-दलितों सभी को समाज के उच्च वर्णों की पंक्ति में खड़ा कर दिया था। वही लोग जो इनके सामने कभी सिर उठाकर नहीं चलते थे आज सिंह सजकर इन्हीं को रणक्षेत्र में चुनौती दे रहे थे। कल तक जो लोग इनकी एक आवाज से थराने लगते थे वही आज इनकी ओर गहरी आँख से देखने लगे थे। इन राजाओं को उन्हीं के शोषित ललकार रहे थे। इसलिए पहाड़ी राजे एक पराजय से चुप होकर बैठने वाले नहीं थे। उन्होंने एक बार फिर संयुक्त रूप से गुरु जी से लोहा लेने की ठानी।

सम्बत् १७५८ को सभी पहाड़ी राजाओं ने अपनी सेना को संयुक्त करके सरदार जमतुल्ला को साथ लेकर आनन्दपुर साहिब पर धावा बोल दिया। कई दिन तक भयंकर मारकाट चलती रही। जमतुल्ला पहले ही दिन मारा गया। लाशों के अम्बार लग गए। पहाड़ी राजे इस बार दृढ़ संकल्प लेकर आए थे। अतः अत्यधिक प्राण हानि के बावजूद भी वे पीछे नहीं हट रहे थे। परन्तु आनन्दपुर को जीतना भी टेढ़ी खीर था। राजाओं ने आनन्दपुर की नाकाबन्दी करने की सोची। आनन्दपुर को चहुँ ओर से घेरे में

ले लिया। राशन-पानी की सारी व्यवस्था भंग कर दी। बीस दिन तक यह नाकाबन्दी जारी रही। परन्तु गुरु जी के सिक्खों ने द्वार नहीं खोले। राजे बहुत निराश हो गए। उन्होंने हाथी को मदिरा पिलाकर द्वार तोड़ने की असफल चेष्टा की। अन्तिम बार का निर्णायक युद्ध हुआ। वीर सिक्खों के भीषण घातों-प्रतिघातों को सहन न करती हुई राजाओं की सेना दुम दबाकर भाग निकली। और आनन्दपुर के द्वितीय युद्ध का अन्त हुआ। राजाओं ने गुरु जी से संधि कर ली।

सिक्ख सेना की शक्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही थी। सिक्ख शक्ति वास्तव में जनशक्ति थी। क्योंकि इसमें अधिकांश वही व्यक्ति थे जो समाज में हजारों वर्षों से शूद्र माने जाते थे। जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय सदा अपने पैरों तले लताड़ते रहते थे। इन पद-दलित, संव्रस्त, कुंठित-व्यक्तियों में गुरु जी ने नव प्राण संचार किया था। नई स्फूर्ति, नई शक्ति, इनमें भरी थी। आज ये किसी के गुलाम नहीं थे। किसी की पराधीनता, किसी परसत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। आज ये भी समाज की अग्रिम पंक्तियों में खड़े थे। ये सिंह थे, शूरवीर थे, धर्म एवं संस्कृति के रक्षक थे। परन्तु सत्ता पर कुंडली मारकर, जनता का शोषण करने वाले विपक्ष इनके अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकते थे। दक्षिण में औरंगजेब के पास गुरु गोविन्द सिंह जी की बढ़ती शक्ति की खबरें बढ़ा-चढ़ाकर भेजी जाने लगीं। पंजाब के विप्लव का चित्र औरंगजेब के सामने पेश किया जाने लगा। मराठा शक्ति के समान ही पंजाब में सिक्ख जाति की शक्ति का भय उसके सामने दिखाया गया। औरंगजेब के सामने विशाल मराठा शक्ति थी। बातावरण में गूँजने वाला हर-हर महादेव का नया घोष था। मुगल सेना पर छापा मारते मराठा वीर थे। उसने इस सारी शक्ति का चित्र पंजाब में भी देखा। पंजाब में खालसा पंथ के रूप में बढ़ रही हिन्दू शक्ति को कुचलने का निश्चय किया।

विख्यात सेनापति सैद खां के नेतृत्व में विशाल सेना आनन्दपुर पर विजय प्राप्त करने के लिए भेजी गई। वैशाख सम्बत् १७६१ को मुगल सेना ने आनन्दपुर पर धावा बोल दिया। आनन्दपुर में केवल पाँच सौ सिंह थे और दूसरी ओर अपार सेना। परन्तु एक ओर थे स्वतन्त्रता, समानता व धर्म के लिए लड़ने वाले सेनानी और दूसरी ओर थे बेतन भोगी कर्मचारी। नगरों पर चोटें पड़ने लगीं। दुर्दिभियाँ बजने लगीं। भीषण संग्राम छिड़ गया—देवताओं और राक्षसों का, शोषितों और शोषकों का, शासकों और गुलामों का। मुगलों का सेनानायक सैद खां केवल पाँच सौ सिंहों की ऐतिहासिक वीरता देखकर दंग रह गया। वह मुगल सेना से अलग होकर वापिस चला गया। रमजान ने मुगल सेना की कमान सम्भाली और दुगने उत्साह से आक्रमण कर दिया। परन्तु गुरु जी के तीक्ष्ण शरों से वह भी न बच सका। वायल होकर रणक्षेत्र में गिर पड़ा। परन्तु पाँच सौ और लाखों का भला क्या मुकाबला हो सकता है? शौर्य का अलौकिक प्रदर्शन तो हो सकता है परन्तु विजयश्री का वरण नहीं। गुरु जी ने अपने पाँच सौ सिंहों के साथ आनन्दपुर नगर छोड़ दिया। नगर मुगलों के अधिकार में आ गया। लूट का खुला दौर चला। मुगल अत्याचारियों ने नगर की ईंट से ईंट बजा दी। विजय के मद को मदिरा के मद में मिलाकर मुगलवाहिनी निद्रा की गोद में विमग्न हो गई। राजा को सिंहों ने धावा

बोल दिया। सारी सेना में भगदड़ मच गई। सिंहों की तलवारों की तेज धार से मुगल फिर धड़ाधड़ गिरने लगे। रात भर में ही मुट्ठी भर सिखों ने आनन्दपुर को मुगल आक्रमणकारियों से खाली करवा लिया।

मुगलों की इस भीषण पराजय का संवाद दक्षिण में औरंगजेब के पास पहुँचा। दक्षिण पहले ही औरंगजेब के हाथों से खिसक रहा था। इधर पंजाब की यह हालत जान कर औरंगजेब घबरा गया। उसने सरहन्द के नाज़म वज़ीर खां, काश्मीर के नाज़म ज़वरदस्त खां और लाहौर के नाज़म दिलावर खां के नाम शाही फरमान भेजे कि जैसे भी हो तुरन्त आनन्दपुर का मान मर्दन करो। औरंगजेब का आदेश मिलते ही ये तीनों, अनेक पहाड़ी राजाओं को साथ लेकर, पठानों को धर्मयुद्ध के नाम पर अपनी सेना में सम्मिलित करते हुए, लाखों की संख्या में अटला हो अकबर का जय निनाद करते हुए आनन्दपुर की ओर चल पड़े।

वातावरण को संवस्त करता हुआ धर्मान्धता का यह जयघोष आनन्दपुर की पहाड़ियों से टकराता हुआ सारे पंजाब में फैल गया और सिक्खों के जत्थे के जत्थे आनन्दपुर की ओर चल पड़े। आक्रान्ता से सामना करने के लिए, समानता तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तथा सबसे बढ़कर माँ भारती को स्वतन्त्र कराने के लिए। एक बार फिर सेना आमने-सामने खड़ी हो गई। एक ओर लाखों की संख्या में मुगलों की सेना तथा दूसरी ओर सिर धड़ की बाजी लगाने वाले केवल कुछ सहस्र देश दीवाने। ज्येष्ठ २२, १७६१ को युद्ध प्रारम्भ हो गया। म्यानों से तलवारें निकल आईं। घोर शंखनाद से गगन निनादित हो गया। घात-प्रतिघात होने लगे। हाथियों की चिंघाड़ और घोड़ों की हिन-हिनाहिट से वायु मंडल संवस्त हो गया। लाशों के अम्बार लग गए। रक्त बहता रहा, युद्ध चलता रहा। एक मास तक लाखों मुगल सैनिक केवल मुट्ठी भर सिक्ख सैनिकों का पार न पा सके। रिपु दल ने अपनी युद्ध नीति बदल ली। लड़ने की बजाय शत्रु को घेर लिया गया। आनन्दपुर गढ़ के अन्दर सिक्खवाहिनी कैद हो गई। पानी का स्रोत मुगलों के कब्जे में आ गया। किले के अन्दर राशन समाप्त होने लगा। कुछ समय तक यह खेल भी चलता रहा। भूखे-प्यासे सिंह दुर्ग में डटे रहे। शत्रुओं का सामना करते रहे। पराजय को स्वीकार करना उन्होंने सीखा ही नहीं था। लेकिन निष्क्रिय दुर्ग में बैठे रहना भी सिंहों के स्वभाव के अनुकूल नहीं था। गुरु गोविन्द सिंह जी ने दुर्ग से बाहर निकलने का निश्चय किया। शत्रु से खुले टकराने का, जीवन-मृत्यु का प्रश्न था। मासों के युद्ध का निर्णय होने वाला था। चूहे की तरह दुर्ग में बैठना उनके वश की बात नहीं थी।

छः-सात पौष की मध्य रात्रि थी। विश्व इतिहास में अविस्मरणीय रात्रि, साहस की पराकाष्ठा थी। इर्द-गिर्द लाखों की संख्या में मुगल सैनिक दूर-दूर तक, जहाँ भी नज़र जाती मुगल सेना ही दिखाई देती। सेना ही सेना जिसका न कोई आदि था न अन्त। गुरु गोविन्द सिंह जी केवल डेढ़ हजार सैनिकों को लेकर सम्पूर्ण परिवार सहित आनन्दपुर के दुर्ग से निकल गए। रिपु दल को चुनौती देते हुए अभी कीरतपुर ही पार किया था कि शत्रुओं ने धावा बोल दिया। आगे सरसा नदी आ गई। बाढ़ का पानी किनारे तोड़कर बह रहा था। लहरें भी आकाश की ऊँचाई को छूना चाहती थीं और पानी की गति समीर

की गति को भी लज्जित कर रही थी। गुरु जी दोनों ओर से विपत्ति में थे। आगे कुआँ पीछे खाई। लेकिन उनके पास सोचने का समय नहीं था। पैदल सेना को वहीं रोक दिया। शत्रु को उलझाये रखने के लिए स्वयं नदी में कूद पड़े। नदी की तेज धारा और सिंहों की पार जाने की उद्दाम इच्छा। सभी दूसरे किनारे जा पहुँचे। सभी के सम्बन्ध विच्छेद हो गए। परन्तु एक दूसरे को खोजने का समय बिल्कुल नहीं था। पीछे से शत्रु सेना आ रही थी। माता गुजरी, गुरु जी के दो छोटे सपुत्र फतहसिंह और जोरावर सिंह सेवक गंगाराम के साथ किनारे लगे। उसका गाँव समीप ही था। वह उनको अपने घर ले गया। अपने साथ वचे सौ के लगभग अश्वारोहियों को लेकर गुरु जी रोपड़ की ओर चल पड़े। रोपड़ में पठानों के साथ संघर्ष करते हुए गुरु जी सायंकाल चमकौर साहिब पहुँचे। उनके साथ दो बड़े पुत्र और चालीस सैनिक थे। यह घटना पौष दिनांक ७ की है।

चमकौर निवासियों ने गुरु जी का हार्दिक स्वागत किया। दो दिन से भूखे सिंहों को भोजन कराया। उनके रहने की व्यवस्था एक किसान की हवेली में की गई जो गढ़ी कहलाती थी। चालीस सिंह अभी विश्राम भी न कर पाये थे कि सुबह ही शत्रु सेना ने उस कच्ची गढ़ी को घेर लिया। वचने की सारी आशा समाप्त हो गई। कहाँ चालीस सैनिक और कहाँ लाखों मुगल सैनिक। गुरु जी ने ४० सैनिकों को छोटे-छोटे दलों में विभाजित कर दिया। एक दल युद्ध के लिए जाता, वीरगति को प्राप्त हो जाता, फिर दूसरा उसका स्थान ले लेता। दो दलों के दलपति गुरु के पुत्र अजीतसिंह और जुझारसिंह नियुक्त हुए। पहले अजीतसिंह जी अपने दल को लेकर युद्धभूमि में गए। खड्ग के अविस्मरणीय हाथ दिखाते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके बाद छोटे कुमार जुझारसिंह जी रणभूमि में आ गए। भयंकर युद्ध था। युद्ध क्या था वीरता की अलौकिक छवि थी। विद्युत के समान अपने वीरों से शत्रु सेना को चकाचाँध करते हुए जुझारसिंह रणभूमि में सदा सर्वदा के लिए सो गए। ८ पौष का दिन भारतीय इतिहास में सदा-सदा के लिए स्मरण रहेगा, जिस दिन एक पिता ने अपने हृदय के दोनों लाल सत्य, धर्म की रक्षा के लिए बलिदान करवा दिए। धन्य हैं ऐसे पिता और धन्य है उनकी सन्तान।

गढ़ी में केवल ग्यारह सिंह रह गए थे। रात्रि को यह तय हुआ कि गुरु जी गढ़ी छोड़कर अन्यत्र चले जाएँ, क्योंकि स्वतन्त्रता की ज्योति को प्रज्वलित रखने के लिए गुरु जी के प्राणों की अत्यधिक आवश्यकता थी। गुरु जी सभी ग्यारह सैनिकों को लेकर भी पलायन नहीं कर सकते थे। शत्रु को घोखे में रखने के लिए गढ़ी में कुछ सैनिकों का रहना अति आवश्यक था। यह सारी मन्त्रणा ८ पौष की रात्रि को हो रही थी। अत्यन्त भयानक रात्रि थी यह। काल से एक दिन पूर्व की रात्रि। मृत्यु से एक दिन पूर्व का जीवन। जीवन और मृत्यु का संघर्ष था। गढ़ी से बाहर भी मृत्यु का भयानक साया और गढ़ी के भीतर भी मृत्यु की घुटन। दयासिंह, धर्मसिंह, मानसिंह गुरु जी के साथ जाएँगे—ऐसा निश्चय हुआ। गढ़ी का फाटक खोल दिया गया। बाहर जाने वाले अन्दर रहने वालों को मिले। आँखों से आँखें मिलीं। जीवन और मृत्यु का यह मिलन था। गुरु गोविन्द सिंह जी वचकर खाली गढ़ी से बाहर निकल गए। शत्रु सेना हाथ मलती रह गई। सात गढ़ीने से चलाया जा रहा गोविन्द सिंह को पकड़ने का अभियान मिट्टी में मिल गया। सिक्ख शक्ति

को समाप्त करने के सारे सपने, सपने ही रह गए। सरहिन्द के नवाब को ही सबसे ज्यादा गुरु जी से शत्रुता थी। इस युद्ध में पराजित होकर उसने गुरु जी व उनके परिवार के किसी अन्य प्राणी को पकड़वाने वाले को भारी पारितोषिक देने की घोषणा भी की। गंगाराम, जिसके पास माता गुजरी और दोनों छोटे गुरु-कुमार रहते थे यह घोषणा सुनकर विचलित हो गया। धन की चकाचौंध से वह चूंधिया गया। उसका धर्म गिर गया, उसने ईमान बेच दिया। लक्ष्मी के लिए उसने गुरु कुमारों का सौदा कर लिया और दोनों लाल सरहिन्द के नवाब को सौंप दिए। अत्याचारों का भीषण दौर शुरू हुआ। जोरावरसिंह और फतेहसिंह को इस्लाम धर्म में दीक्षित करने के भरसक प्रयास किए जाने लगे लेकिन दोनों गुरु पुत्रों ने हिन्दू धर्म छोड़कर इस्लाम धर्म में जाना अस्वीकार कर दिया। सरहिन्द के नवाब के तन-बदन में आग लग गई। इनकी यह मजाल, सत्ता से लोहा लेने का हँसला, नजाम की आज्ञा उल्लंघन करने का साहस और फिर नजाम ने आपा खो दिया। “ये इस्लाम कबूल नहीं करते तो दीवारों में चिनवा दो।” नवाब का क्रूर आदेश सरहिन्द से उठकर सारे गगन में गूँज गया। विश्व के इतिहास में १३ पोष का दिन अनन्त काल के लिए अंकित हो गया। गुरु गोबिन्द सिंह जी के दोनों सुकुमार पुत्र जिन्दा ही ईंटों की दीवारों में चिनवा दिये गए। उनका अपराध? केवल इतना कि उन्होंने सत्य धर्म का त्याग नहीं किया। मृत्यु से परिहास करने वाला यह इतिहास विश्व में और कहाँ मिलता है?

बाद में जब धर्मपत्नी ने गुरु जी से अपने पुत्रों के बारे में पूछा तो निराल्प मंन्यासी की तरह संगत की ओर इंगित करते हुए गुरु जी ने कह दिया—

इन पुत्रन के सीस पर
चार दीये सुत चार ।
चार भुए तो क्या भया,
जीवत कई हज्जार ॥

चमकौर की गद्दी से साथ आये गुरु जी के तीनों साथी मार्ग भूलकर अलग-अलग दिशाओं में चले गए। शत्रु से वचने के लिए माछीवाड़े के घने व भयंकर जंगलों में गुरु जी दिन-रात अकेले भटकते रहे। शीत की कई रातें खुले आकाश के नीचे बिता दीं। कांटों भरी झाड़ियों को नंगे पैरों से पार किया। शरीर छिल गया। पाँवों में फफोले पड़ गए लेकिन गुरु जी किंचित भी विचलित नहीं हुए। मुगल आवादी व सेना से घिरे इस क्षेत्र से गुरु जी को कुछ मुसलमान शिष्यों ने मुसलमानी पीरों के वेश में पालकी में बिठाकर सुरक्षित स्थान पर भेज दिया। अनेक स्थानों पर ठहरते हुए, शक्ति संचय करते हुए, सिक्ख सैनिकों को एकत्रित करते हुए गुरु गोबिन्द सिंह जी ने खिदराणा (मुक्तसर) के स्थान पर पड़ाव डाल दिया। सरहिन्द की सेना तो गुरु जी का पीछा कर ही रही थी। यहाँ फिर मोर्चा जम गया परन्तु इस युद्ध में मुगल सेना को बुरी तरह से पराजित होना पड़ा क्योंकि जल के अभाव में मुगल सेना के लिए युद्ध जारी रखना असम्भव हो गया। खिदराणा के इस युद्ध के बाद गुरु जी भ्रमण करते-करते तलवण्डी सावो पहुँचे। इस स्थान

पर गुरु जी कुछ देर के लिए स्वाई रूप से रहे। गुरु जी का यह निवास साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखता है। गुरु ग्रन्थ का आज जो रूप उपलब्ध होता है उसे वर्तमान रूप यहीं दिया गया था। इसी स्थान पर से गुरु जी ने औरंगजेब को दक्षिण में एक पत्र लिखकर भेजा जो जफरनामा के नाम से प्रसिद्ध है। भाई दयासिंह के हाथ जफरनामा औरंगजेब के नाम प्रेषित करके गुरु जी पंजाब से दक्षिण की ओर चल पड़े। मार्ग में ही उन्हें औरंगजेब की मृत्यु की सूचना मिली औरंगजेब की मृत्यु ने स्थिति को एकदम बदलकर रख दिया। अतः गुरु जी तुरन्त दिल्ली की ओर चल पड़े। औरंगजेब की मृत्यो-परान्त उसके पुत्रों मुअज्जम तथा आजम में सत्ता प्राप्ति के लिए युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। औरंगजेब का ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम गुरु जी का पूर्व परिचित था उसने गुरु जी से सहायता की प्रार्थना की। गुरु जी ने उसे विजय का आश्वासन तो दिया लेकिन सैनिक सहायता दी या नहीं इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। अस्तु दोनों भाईयों का आगरे के निकट जमकर युद्ध हुआ और मुअज्जम बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। इस सारे कांड के बाद गुरु जी दिल्ली से आगरे की ओर चल पड़े और वहीं रहकर धर्म प्रचार करने लगे। बहादुर शाह ने एक दिन आपको मिलने के लिए बुलाया और एक मूल्यवान खिलअत, एक धुगधुगी और एक कलगी भेंट की। गुरु जी आगरे में टिके रहे। १७०७ को बहादुर शाह राजपूतों का विद्रोह दवाने के लिए राजस्थान की ओर चल दिया और वहीं से दक्षिण में अपने छोटे भाई के विद्रोह को कुचलने के लिए दक्षिण की ओर चल दिया। कुछ समय के बाद गुरु जी नान्देड़ पहुँच गए। नान्देड़ में रहते हुए गुरु जी को एक महन्त-बैरागी के बारे में पता चला, जिसके बारे में कहा जाता था कि उसने जिन भूत वस में किये हुए हैं। गुरु जी उस विलक्षण व्यक्ति को देखने उसके डेरे पर गए। बैरागी बाहर गया हुआ था। गुरु जी उसके आसन पर बैठ गए। बैरागी ने बाहर से आकर गुरु जी को आसन से गिराने के लिए तान्त्रिक विद्या के अनेक प्रयोग किए लेकिन सफलता न मिली। वह गुरु जी के चरणों पर गिर पड़ा। गुरु जी ने उसे कर्म का उपदेश दिया। मातृभूमि की दयनीय अवस्था का चित्रण किया। विदेशियों के अत्याचारों से अवगत कराया। बैरागी पर इसका अद्भुत प्रभाव पड़ा। गुरु जी ने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाकर अपने कार्य को बढ़ाने के लिए पंजाब भेजा। यही साधु आगे चलकर बन्दाबैरागी के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नान्देड़ पहुँचने के एक मास उपरान्त ही गुरु जी का देहावसान हो गया। “गुरु शौर्य में लिखा है”—कि एक पठान कुछ दाँव लेकर प्रभु के पास आया और दो तीन घड़ी वहाँ बैठा रहा परन्तु उसका दाँव न लगा क्योंकि वहाँ बहुत लोग उपस्थित थे। उस दिन वह चला गया और दूसरे दिन फिर आया। उस दिन भी वह दो-तीन घड़ी बैठकर घात लगाता रहा परन्तु उस दिन भी उसे सफलता नहीं मिली, और वह घर चला गया। इस प्रकार वह कई दिन आता रहा। परन्तु उसका दाँव न लगा। परन्तु अनेक बार आने के कारण उसने इस भेद का पता पा लिया कि उसके काम का समय संध्या का है। वह दुष्ट एक दिन शाम के समय आया। गुरु जी ने उसे निकट बुलाया और अपने पास बैठकर प्रसाद दिया। जिसे उस दुष्ट ने हाथ में लेकर गृह में डाल लिया। उम गमग यहाँ कोई

सिंह नहीं था। केवल एक रक्षक था, वह भी ऊँघ गया था। इतने में प्रभु स्वयं विश्राम करने लगे। अवसर देखकर उस पठान ने उन पर छुरे से आक्रमण कर दिया। उसने उन पर दो बार किए कि गुरु जी ने निकट रखी अपनी तलवार के एक ही बार से उस दुष्ट को वहीं मार गिराया। फिर उन्होंने आवाज देकर शिष्यों को बुलाया। झटपट बहुत से लोग वहाँ आ गए और उसके दो साथियों को जो डेरे से बाहर खड़े उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे मार डाला। डेरे के अन्दर पड़े तीसरे पठान के शव को देखकर सिक्ख उस पर तलवार चलाने ही वाले थे कि गुरु जी ने कहा यह तो कभी का मर चुका, इसे यहाँ से हटाओ। अभी तक किसी को यह पता नहीं लगा था कि गुरु स्वयं जखमी हो गए हैं। परन्तु जब वे उठे और लड़खड़ाए तब उन्हें इस दुःखद घटना का पता लगा और वे दुःख में डूब गए। गुरु ने सबको सान्त्वना दी कि भय की कोई बात नहीं है। अकाल ने उनकी रक्षा की है। इसी समय घाव धोकर सी दिये गए। परन्तु जब उन्होंने उठने का प्रयास किया तो घागे टूट गए। घाव फिर सी दिये गए और उन पर मरहम लगा दी गई। तीन चार दिन व्यतीत हुए। बहुत से सिक्ख उनके दर्शन के लिए आ रहे थे। उनकी प्रार्थना पर गुरु जी दरबार में आए। फिर कुछ दिन व्यतीत हुए। सिक्खों में आनन्द छा गया। परन्तु वे समझ गए थे कि उनका अन्त समय निकट आ गया है। एक रात्रि को थोड़ा भोजन करके वे लेट रहे। आधी रात से चार घड़ी समय अधिक व्यतीत हुआ कि उन्होंने सब सिक्खों को बुलाया। सभी सिक्ख उनके निकट एकत्र हो गए और गुरु गोबिन्द सिंह जी ने उनसे अन्तिम बार “वाहि गुरु जी की फतेह” कही और उनकी आत्मा ने अपनी नश्वर देह को छोड़ दिया। आक्रमणकारी कौन थे? किसलिए गुरु जी को मारना चाहते थे? इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद पाया जाता है परन्तु प्रायः कहा जाता है कि पठान सरहिन्द के नवाब ने गुरु जी की हत्या के लिए भेजे थे।

देहावसान के समय गुरु जी की आयु ४२ वर्ष की थी और विक्रमी १७६५ की शुचि पंचमी थी।

दार्शनिक विचारधारा

भारतीय चिन्तनधारा

दर्शन या चिन्तन का प्रारम्भ कब से हुआ—इसका सुनिश्चित उत्तर देना उतना ही कठिन कार्य है जितना यह बताना कि दर्शन है क्या। जब मानव उत्पन्न हुआ तभी से दर्शनशास्त्र का प्रारम्भ मानना चाहिए। कुछ विद्वान कहते हैं कि जब से मानव ने सोचना प्रारम्भ किया, उस दिन से ही दर्शन की शुरुआत माननी चाहिए। परन्तु कब से सोचना प्रारम्भ किया—यही तो समस्या है। सोचने से भी पहले जिज्ञासा, उत्सुकता व कुतूहल की प्रक्रिया मानव मन में हुई होगी और जिज्ञासा वृत्ति ही दर्शन का मूलधार है ऐसा प्रायः सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाता है। जिज्ञासा वृत्ति का प्रारम्भ तो आँखें खोलते ही हो जाता है उसकी अभिव्यक्ति चाहे कालान्तर में होती हो। अतः कहना न होगा कि मानव का उदय और दर्शन का उदय साथ-साथ हुआ।

किन्तु इतने मात्र से ही हमारी समस्या हल नहीं हो जाती। मूल समस्या तो यह है कि दर्शन है क्या? इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की जानकारी, आत्मा क्या है? परमात्मा का अस्तित्व है या नहीं? इस सारी सृष्टि का नियन्ता कौन है? आदमी कहाँ से आता है? मरकर कहाँ जाता है? इत्यादि सभी प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करने वाले शास्त्र को दर्शनशास्त्र कहा जाता है। आवश्यक नहीं कि इन प्रश्नों को लेकर सभी चिन्तक एक ही परिणाम पर पहुँचें अतः दर्शन की अनेकानेक शाखाएँ व उपशाखाएँ प्रचलित होती रही हैं और आगे भी होती रहेंगी?

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन काल को तीन भागों में विभाजित करके परखा जा सकता है -

- (क) प्राचीन भारत में दर्शन,
- (ख) मध्ययुगीन भारत में दर्शन,
- (ग) आधुनिक भारत में दर्शन।

इनमें से अन्तिम भाग 'आधुनिक भारत में' सम्बन्धी छानबीन करने का क्षेत्र हमारा नहीं है क्योंकि हमें केवल गुरु नानक या अधिक मे अधिक गुरु गोविन्द सिंह तक के काल का अध्ययन करना है।

वेदों एवं उपनिषदों में दर्शन

उपनिषदों में मूल रूप से इन्हीं सब बातों पर विस्तार से विचार किया गया है। उपनिषदों में यज्ञों को वेदों के समान प्रमुखता नहीं दी गई। उपनिषद तो शाश्वत सुख की खोज में हैं और यह शाश्वत सुख या अनन्त सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्य जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति कर ले। उपनिषदों के अनुसार सृष्टि का कारण पाँच तत्व क्षिति, जल, अग्नि, गगन और वायु हैं। इनसे भी बड़ा तत्व है, जिसका विस्तार ही सृष्टि का जन्म है और सिमटना ही प्रलय है। किन्तु यह तत्व ब्रह्म है या प्रकृति ?

उपनिषद आत्मा परमात्मा में कोई अन्तर नहीं मानते। आत्मा परमात्मा का ही अंश है। शरीर के बीच से हटने पर आत्मा पुनः परमात्मा या ब्रह्म में जा मिलती है। आत्मा अजर अमर है। उपनिषद कर्मवाद और फलवाद के सिद्धान्त को भी मानते हैं। जो व्यक्ति जैसे कर्म करता है उसका फल उसे भोगना ही पड़ेगा। अच्छे कर्मों से अच्छी योनि में जन्म मिलता है और बुरे कर्मों से नीच योनि में जन्म मिलता है। ज्यों-ज्यों कर्म होते जाएँगे योनियाँ भी श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होती जाएँगी और इसी साधना के फलस्वरूप मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति करता है।

परन्तु उपनिषदों का चिन्तन इतना सरल है यह मानकर चलना अपने आपको अन्धेरे में रखना होगा। वास्तव में मैंने तो कुछ मोटी बातों को क्रमबद्ध रखने का प्रयत्न किया है। वास्तव में उपनिषदों में भी आन्तरिक उलझनों की छटपटाहट स्पष्ट देखी जा सकती है। “उपनिषदों में सारी बातें सुलझाकर एक स्थान पर नहीं रखी गई हैं। उपनिषदों की बहुत सी बातें परस्पर विरोधी हैं। उपनिषद कभी तो ब्रह्म को निर्विकार कहते हैं और कभी यह कहते हैं कि उसी ने सृष्टि की रचना की। वे कभी तो आत्मा और परमात्मा को अभेद मानते हैं और कभी कहते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान और आत्मा सीमित है। परमात्मा आनन्दस्वरूप और आत्मा दुःख पीड़ित है। आत्मा और परमात्मा एक है, आत्मा और परमात्मा अलग है, आत्मा और परमात्मा अलग भी है और एकाकार भी है। ये तीन तरह के मत हैं और तीनों का समर्थन उपनिषदों में खोजा जा सकता है।”^१

जैन, बौद्ध, वैशेषिक, न्याय, सांख्य आदि दर्शन

प्राचीन काल के दर्शन विचारों में लोकायत, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदान्त, जैनमत और बौद्धमत विशेष उल्लेखनीय हैं। इन मतों की स्थापना वृहस्पति, कपिल, गौतम, कणाद, पातंजलि, जैमिनी, वादरायण, वर्द्धमान और बुद्ध ने की थी। इन मतों व मतकारों को आधार बनाकर ही भारतीय दर्शन कालान्तर में विकसित हुआ। श्री के० दामोदरन् प्राचीन भारत की चिन्तनधारा को भौतिकवाद व आदर्शवाद में बाँटते हैं। प्राचीन काल के प्रसिद्ध चिन्तक भृगु भौतिकवाद व पदार्थवाद का समर्थन करते हुए लिखते हैं—“पदार्थ शाश्वत है, कारण यह है कि पदार्थ से ही तमाम जीवों की उत्पत्ति हुई है। पदार्थ के कारण ही तमाम जीव जीवित रहते हैं। पदार्थ में ही

तमाम जीव मिल जाते हैं, उसमें लीट जाते हैं।”^२

एक अन्य भौतिकवादी दार्शनिक कम्बलाश्वधर का कहना है—“चेतना की उत्पत्ति शरीर से होती है। यह प्राण, अपान तथा अन्य जीव प्रेरक वाहनों से जीवन्त क्रियाकलापों के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। वह चेतना को सज्ञान मानते थे। इसलिए उनके अनुसार ‘ब्रूण जीवन की प्रारम्भिक दशाओं में, जब इन्द्रियाँ अत्यन्त अविकसित दशा में होती हैं, चेतना नहीं हो सकती थी। उनका मत था कि अलग-अलग शरीरों में एक जैसी चेतना नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए हाथी की मानसिक दिशा घोड़े की मानसिक दिशा से भिन्न होती है।

“इस प्रकार हम देखते हैं कि वाद-विवाद का विषय यह नहीं था कि आत्मा है अथवा नहीं बरना यह था कि क्या शरीर से स्वतन्त्र है। क्या आत्मा का, मस्तिष्क अथवा ज्ञान का, स्मृति अथवा चेतना का, अस्तित्व पदार्थ अथवा भौतिक तत्त्वों के अस्तित्व पर निर्भर है? अथवा इसके विपरीत पदार्थ का अस्तित्व ज्ञान सिद्धान्त अथवा चेतना पर निर्भर है? प्राथमिक क्या है? पदार्थ अथवा आत्मा? वे लोग जो इस सिद्धान्त के अनुयायी थे; पदार्थ को प्राथमिकता देते थे भौतिकवादी कहलाए और जो इस सिद्धान्त को मानते थे कि प्राथमिकता तो आत्मा को प्राप्त है और प्रत्येक पदार्थ का उद्भव चेतना अथवा किसी ज्ञान सिद्धान्त से हुआ है, आदर्शवादी कहलाए।”^३

भौतिकवादी दर्शनों में लोकायत अथवा चार्वाक दर्शन प्रसिद्ध है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि इस दर्शन के मूल सूत्र नष्ट हो गए हैं और हमें केवल इसकी भाष्याएँ प्राप्त होती हैं। माधवाचार्य ने इन सूत्रों का सार प्रस्तुत किया है। लोकायत दर्शन की स्पष्टोक्ति है कि चार तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु ही चरम तत्त्व हैं। प्रत्यक्ष का ही अस्तित्व है। प्रकृति के अतिरिक्त दूसरा कोई कारण नहीं है। आत्मा शरीर ही है। इस संसार के अतिरिक्त दूसरा कोई संसार नहीं है। मृत्यु ही मोक्ष है, अतः मोक्ष के लिए कष्ट नहीं होना चाहिए। चार्वाक दर्शन पर टिप्पणी करते हुए श्री के० दामोदरन लिखते हैं कि—‘लोकायत दर्शन एक प्रगतिशील आशावादी दर्शन था। उसने दरअसल न केवल परिकल्पना के महान् सृजनात्मक प्रयासों के लिए बल्कि जनता की भौतिक खुशहाली और सांस्कृतिक प्रगति के लिए भी रास्ता तैयार किया।’

प्राचीन भारतीय दर्शन में लोकायत के वाद बौद्ध दर्शन का अपना शाश्वत महत्त्व है। बौद्ध दर्शन का सम्पूर्ण सार महात्मा बौद्ध के निम्न कथ्य में छिपा है—‘तब दुःख का पवित्र सत्य क्या है? जन्म लेना दुःख है, शरीर का अथ होना दुःख है, बीमारी दुःख है, मृत्यु दुःख है, किसी प्रिय वस्तु से नाता तोड़ दिया जाना दुःख है, किसी अपेक्षित वस्तु का प्राप्त न होना भी दुःख है।’

तब दुःख की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पवित्र सत्य क्या है? यह लोभ और लालसा ही है जो पुनर्जन्म का कारण है, जिसके साथ सुख और लालच की भावना लगी रहती है। यत्र-तत्र सुख खोजने की भावना लगी रहती है।

तब दुःख का अन्त करने के सम्बन्ध में पवित्र सत्य क्या है? यह लोभ और लालसा ही है जो पुनर्जन्म का कारण है जिसके साथ सुख और लालच की भावना लगी

रहती है। यत्र-तत्र सुख खोजने की भायना लगी रहती है।

तब दुःख का अन्त करने के सम्बन्ध में पवित्र सत्य क्या है ? यह लोभ को पूर्णतः रोक देना, उससे अपने आपको खींच लेना, उसे त्याग देना, उसे पीछे फेंक देना, उससे मुक्त होना उससे अनासक्त होना है।

तब दुःख को रोकने के बारे में पवित्र सत्य क्या है ? यह एक पवित्र आठ सूत्रीय भाग है। सही विश्वास, सही इरादे, सही भाषण, सही आचरण, सही जीवन यापन, सही प्रयत्न, सही मानसिक व्यवस्था और सही ध्यान।

बौद्ध दर्शन के बाद सांख्यदर्शन का नाम आता है जिसके प्रवर्तक कपिल ऋषि थे। सांख्य दर्शन में दुःख, उसके कारण व निवारण, विविध विज्ञान, विविध प्रमाण, सत्यकार्यवाद, सृष्टि एवं प्रलय, प्रकृति, पुरुष, लिंग, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर, बन्धन एवं मोक्ष आदि सभी विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है। विचार दर्शन की मूल धारा आदर्शवादी न होकर भौतिकवादी व अनीश्वरवादी ही है।

सांख्य दर्शन के बाद वैशेषिक व न्याय दर्शन का प्रमुख स्थान है। वैशेषिक प्रणाली के प्रणेता कणाद माने जाते हैं। इस प्रणाली के अनुसार विश्व की सभी भूत, वर्तमान व भावी वस्तुएँ छः पदार्थों में विभाजित हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। वाद में अभाव नामक पदार्थ भी इस सूची में सम्मिलित कर लिया गया। वैशेषिक प्रणाली के मूल में द्रव्य है। द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है, “द्रव्य वह है जिसमें गुण और क्रियाएँ होती हैं और जो किसी प्रभाव का अन्तर्निहित अथवा भौतिक कारण होता है।

वैशेषिक के साथ ही न्याय का नाम आता है। न्याय दर्शन की परिभाषा वात्स्यायन ने निम्न की है—“तात्त्विक प्रमाण के नियमों के द्वारा ज्ञान की वस्तुओं की आलोचनात्मक परीक्षा।” वैशेषिक और न्याय का सम्बन्ध अटूट है। “वैशेषिक के साथ न्याय भी मूलतः एक भौतिकवादी दर्शन है। जिसके अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में किसी ईश्वर अथवा अन्य अलौकिक शक्ति का हाथ नहीं। न्याय दर्शन के अनुसार ब्रह्माण्डोत्पत्ति का आधार पाँच मूलभूत शाश्वत तत्वों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की अवधारणा है। उसने घोषणा की कि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य निश्चयेस प्राप्त करना है और इसे यथार्थ के पूर्णज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। न्याय ने प्रकृति के नियमों को आधार मान कर मानव अस्तित्व की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया।”^४

वैशेषिक न्याय से भी अधिक उपनिषद दर्शन का महत्त्व है। केवल भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में विचारक उपनिषदों का मन्थन कर रहे हैं। उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है क्योंकि ये वेद ज्ञान का विकास माने जाते हैं। उपनिषदों के रचना काल को लेकर तो अवश्य कोलाहल है लेकिन इनके महत्त्व को लेकर कोई कोलाहल नहीं है। एक मौन स्वीकृति। उपनिषदों के सूक्ष्म चिन्तन का मूल नासदीय सूक्त में मिलता है, जिसमें कहा गया है—“सृष्टि के प्रथम, अन्धकार से अन्धकार ढंका हुआ था। सभी कुछ अज्ञात और सब जलमय था। अविद्यमान वस्तु के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वही एक तत्त्व उत्पन्न हुआ। प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है ? कौन

उसका वर्णन करे। यह सृष्टि किस उत्पादन कारण से हुई। किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुई। क्या देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए? कहाँ से सृष्टि उत्पन्न हुई, यह कौन जानता है? ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हैं? किसने सृष्टियों की रचना की और किसने नहीं की, ये सब वे ही जानें जो इनके स्वामी परम धाम में रहते हैं। हो सकता है वे भी ये सब नहीं जानते हैं।

प्राचीन भारतीय दार्शनिक मत-मतान्तरों के बाद मध्ययुगीन दार्शनिक चिन्तकों व चिन्तनधाराओं में शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य का विशिष्ट द्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। शंकराचार्य ने एकेश्वरवाद पर आधारित एक नई प्रणाली को जन्म दिया जो अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद प्राचीन हिन्दू शास्त्रों व चिन्तनधाराओं के प्रति वद्ध नहीं था, बल्कि शंकराचार्य ने इन सभी दर्शन ग्रन्थों का भाष्य अपने अद्वैतवाद के अनुकूल किया। शंकराचार्य ने अपने चिन्तन व दर्शन से भारतीय दर्शन क्षेत्र में खलवली मचा दी थी। आज तक किसी भी चिन्तक ने इतने साहसपूर्ण ढंग से जगत को मिथ्या नहीं कहा था जितने साहस से शंकराचार्य ने। संसार को नकारात्मक भाव से स्वीकार करने वाले सम्भवतः सबसे पहले भारतीय चिन्तक शंकराचार्य ही थे। भारतीय ज्ञान के मूल वेदों में भी कहीं भी इस जगत के यथार्थ से इन्कार नहीं किया गया। बल्कि अधिक से अधिक लौकिक व भौतिक सुखों के लिए देवताओं से प्रार्थना की गई है। उपनिषदों में भी भौतिकता को एक सीमा तक स्वीकारा गया है। ईश उपनिषद में कहा गया है कि मनुष्य सौ वर्षों तक जीने की कामना करे। शंकराचार्य ने बहुत ही उग्रता से इस सारे संसार को माया, छल, धोखा करार दिया। केवल ब्रह्म ही सत्य है अन्य कोई नहीं है। 'एकोऽहं द्वितीयोनास्ति', की पताका लेकर शंकराचार्य ने बाकी सभी चिन्तकों पर आक्रामक प्रहार किए।

परन्तु यदि ब्रह्म ही सत्य है, विश्व माया है तो सृष्टि की रचना पाँच तत्वों से हुई—ऐसा कैसे माना जाए। शंकराचार्य ने समाधान किया पाँचों तत्व ब्रह्म के ही अंग हैं। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की समस्या थी आत्मा प्रमुख है अथवा पदार्थ। पदार्थ का अस्तित्व तो उन्होंने स्वीकार किया ही था। लेकिन शंकराचार्य इस प्रमुखता-अप्रमुखता के विवाद से भी दो कदम आगे बढ़ गए। उन्होंने पदार्थ के अस्तित्व को ही नकार दिया। पदार्थ है नहीं तो यह नित्य दिखाई देने वाला विश्व क्या चीज है। शंकराचार्य ने कहा विश्व माया है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में शंकराचार्य ने कहा दोनों अभेद हैं। प्राचीन चिन्तक जो आत्मा और परमात्मा को एक मानने वालों की श्रेणी में थे भी शरीर के रहते आत्मा और परमात्मा का द्वैत भाव स्वीकार करते थे, शंकराचार्य ने मानव आत्मा (जीवात्मा) और सर्वव्यापी आत्मा (परमात्मा) के द्वैत से स्पष्ट इन्कार कर दिया। ब्रह्म से हटकर कोई यथार्थ नहीं ब्रह्म ही सब कुछ है। ब्रह्म ही सत्य है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद कुछ सीमा तक बौद्ध दर्शन से मिलता है। बौद्ध भी इस जगत को अवास्तविक घोषित करते हैं। शंकराचार्य तो इसके अस्तित्व को ही नहीं मानते। दूसरी एक महत्वपूर्ण बात शंकराचार्य ने कही कि माया का भी ब्रह्म से परे अस्तित्व नहीं है। माया भी ब्रह्म का

ही एक अंग है किन्तु ब्रह्म उससे प्रभावित नहीं होता जिस प्रकार जादूगर अपने जादू से स्वयं प्रभावित नहीं होता। किन्तु शंकराचार्य दर्शन केवल यहीं तक सीमित नहीं है, “उनका दूसरा महत्त्व यह है कि अद्वैत को प्रमुखता देते हुए भी उन्होंने विष्णु, शिव, शक्ति और सूर्य पर स्तोत्र लिखे जिससे हिन्दुत्व में समन्वय लाने का उनका आग्रह प्रकट होता है।”

शंकराचार्य के बाद रामानुजाचार्य के विशिष्ट द्वैतवाद का स्थान आता है। विशिष्ट द्वैतवाद का अर्थ है—एक अपरिचित ब्रह्म का स्वयं अपने स्पष्ट, भिन्न और परिमित अंगों से एकाकार होना।” रामानुज का दर्शन शंकराचार्य से किसी सीमा तक भिन्न है। रामानुज ने ब्रह्म की सर्वश्रेष्ठ सत्ता तो स्वीकार की परन्तु जगत् को मिथ्या मानना उनको ग्राह्य नहीं था। वे ब्रह्म, जीवात्मा यथार्थ सभी की अलग-अलग सत्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु ब्रह्म रामानुजाचार्य के अनुसार निर्गुण नहीं है बल्कि अलौकिक, सर्वशक्ति सम्पन्न, दया, ज्ञान, शक्ति, कल्याण गुणों वाला है। कर्म सुख और दुःख का मूल कारण है। आत्मा और शरीर दोनों ब्रह्म की रचना है। आत्मा को कौन-सा शरीर मिले इसका निर्धारण कर्म करते हैं। रामानुजाचार्य ने सब कटु आलोचना शंकराचार्य के माया सिद्धान्त की की। उनके अनुसार सारा ज्ञान वास्तविक ज्ञान होता है और वास्तविकता मन का भ्रम मात्र नहीं हो सकती। रामानुज और शंकर में जो विशिष्ट भेद हैं, वह हैं—भक्ति और ज्ञान का। शंकराचार्य ज्ञान पर जोर देने वाले थे जबकि रामानुज भक्ति को मोक्ष प्राप्ति के लिए प्राथमिकता देते थे। जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म से ऐक्य स्थापित करना है। इस लक्ष्य को सदा मानव मन के सम्मुख रहना चाहिए नहीं तो मानव मन विषय वासनाओं में लिप्त हो जाएगा।

रामानुज के विशिष्ट द्वैतवाद के बाद मध्वाचार्य के द्वैतवाद की चर्चा आवश्यक है। मध्व का द्वैतवाद शंकर के अद्वैतवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद दोनों से भिन्न है। मध्व के अनुसार यह जगत् यथार्थ है और जीवात्मा व परमात्मा में अन्तर है। तीनों का अपना अलग महत्त्व और अस्तित्व है। इनमें से पहली बात कि जगत् एक यथार्थ सत्य है तो पहले भी कई चिन्तकों द्वारा उद्धोषित की गई परन्तु दूसरी घोषणा कि आत्मा परमात्मा में अन्तर है—सचमुच मौलिक व क्रान्तिकारी उद्भावना है। शंकर के तर्कों का खण्डन करते हुए मध्व ने कहा कि यदि आत्मा और ब्रह्म एक ही है तो ब्रह्म से साक्षात्कार करने के लिए साधना क्यों? क्योंकि साधना करने वाली आत्मा ही तो ब्रह्म है। शंकराचार्य के पास इसका उत्तर था कि मनुष्य का अज्ञान ही भ्रम का कारक है और इस अज्ञान को साधना द्वारा दूर किया जाना है। परन्तु मध्व ने पूछा—अज्ञान किसका? मनुष्य का? या कि आत्मा का। क्योंकि आत्मा से परे तो मनुष्य अस्तित्वहीन है। और आत्मा के अज्ञान के अर्थ हैं ब्रह्म का अज्ञान, क्योंकि शंकर के अनुसार आत्मा व ब्रह्म एक ही हैं। मध्व ने आत्मा व परमात्मा का सम्बन्ध एक नये दृष्टिकोण से देखा—परमात्मा पूर्ण है और आत्मा अपूर्ण। परमात्मा स्वतन्त्र है और आत्मा उस पर निर्भर।

सृष्टि की सभी वस्तुएँ प्रकृति में होने वाले क्रमशः विकास से पैदा हुईं ऐसा मध्वाचार्य का मत है। मानव शरीर भी प्रकृति से उत्पन्न हुआ और प्रकृति ही सतगुण,

रजगुण, तमगुण नामक तीनों गुणों की स्रोत हैं। परमात्मा या विष्णु, जिसे मध्व सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करते हैं, की आराधना से ही इस पार्थिव शरीर को मोक्ष मिल सकता है।

मध्ययुगीन भारतीय चिन्तनधारा का आगे का विकास समझने के लिए हमें तत्कालीन युग की राजनैतिक अवस्था पर दृष्टिपात कर लेना होगा। आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते-होते भारत पर इस्लामी आक्रमणों का दौर गुरु हो गया था। मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में पहला सफल आक्रमण बलोचिस्तान पर हुआ। तदोपरान्त १००० से १०८० के बीच महमूद गजनवी ने भारत पर सात आक्रमण किए। बाहरवीं शताब्दी के अन्त में मुहम्मद गौरी ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। मुहम्मद गौरी की मृत्यु के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में गुलाम वंश की स्थापना की। यह परम्परा खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद वंश से होती हुई १५२६ में लोधी वंश तक चली। १५२६ में बाबर ने इब्राहिम लोधी को पराजित करके भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली। बाबर काल को एक अन्य दृष्टिकोण से देखना भी आवश्यक है। बाबर काल के समानान्तर ही गुरु नानक काल है। गुरु नानक मध्यकाल के एक प्रसिद्ध भक्त थे। मुगल साम्राज्य के साथ-साथ ही गुरु नानक की गुरु परम्परा व एक विशिष्ट भक्ति लहर चली। मुगल साम्राज्य की यह परम्परा हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब से होती हुई आगे तक चलती रही। परन्तु गुरु नानक द्वारा प्रस्थापित गुरु परंपरा गुरु नानक देव से प्रारम्भ होकर दशम गुरु गोविन्दसिंह तक जाकर समाप्त हो गई। गुरु नानक बाबर के सम-कालीन थे और गुरु गोविन्दसिंह औरंगजेब के। गुरु नानक द्वारा प्रारम्भ किया गया यह आध्यात्मिक सम्प्रदाय दशम गुरु तक जाते-जाते खालसा सम्प्रदाय में कैसे परिवर्तित हो गया इसका विवेचन तो कर चुका हूँ। यहाँ तो केवल गुरु परम्परा के दर्शन व चिन्तन का अध्ययन ही अभीष्ट है।

सिक्ख गुरुओं की चिन्तनधारा

वास्तव में सिक्ख दर्शन नाम का कोई अलग दर्शन नहीं माना जा सकता। हिन्दू दर्शन की यह मध्यकालीन जनभाषा थी। गुरुवाणी का धरातल श्रद्धा है जबकि श्रद्धा का दर्शन विरोधी है। गुरु नानक देव ने परमात्मा के निर्गुण स्वरूप को ही मान्यता दी। वे ब्रह्म को अव्यक्त मानते थे। तब प्रश्न यह है कि व्यक्त यथार्थ जगत क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? इसके विषय में गुरु नानक ने कहा कि उस ब्रह्म के 'हुकुम' से ही सब कुछ होता है। ईश्वर के अवतारों के विषय में गुरु नानक देव अवतारवाद के विरुद्ध थे। वे एक ईश्वर में विश्वास रखने वाले थे। जीव, मनुष्य, आत्मा, माया के सम्बन्ध में गुरु जी के अपने निजी विचार हैं लेकिन इन विचारों का प्रतिपादन तर्कों द्वारा न करके श्रद्धा व भावना के धरातल पर ही किया है। माया का अतिप्रबल रूप नानक जी ने अपने काव्य में वर्णित किया है व इससे छुटकारा पाने के विविध उपाय सुझाए हैं। नानक दर्शन में अहंकार का भी विषय विवेचन किया गया है। अहंकार के कारण होने वाले कुप्रभावों का स्पष्ट संकेत किया है। ज्ञान, कर्म व भक्ति में से नानक ने भक्ति को ही सर्वाधिक प्रमुखता दी है। कर्म व ज्ञान को भक्ति के अन्तर्गत ही निरूपित किया गया है।

अकाल पुरख

गुरु नानक ने परमात्मा के लिए 'अकाल' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने परमात्मा के मूल स्वरूप को इस प्रकार स्वीकार किया है :

“१॥ श्रीकार सति नामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजनी सभं गुर प्रसादि ।”

इस मूल मन्त्र की व्याख्या डॉ० राधाकृष्णन् ने निम्न प्रकार से की है—

“ईश्वर एक है। उसका नाम पूर्ण सत्य है। वह सर्वस्व का स्रष्टा है। वह किसी का मीत नहीं, न ही उसकी किसी से शत्रुता है। उसका बिम्ब कालातीत है। वह प्रजात नहीं, अपना जनक वह स्वयं ही है। मनुष्य उसे केवल गुरु कृपा से ही जान सकता है।”^५

गुरु दर्शन का यह मूल मन्त्र परमात्मा के निर्गुण रूप की ओर ही इंगित करता है। आगे गुरु नानक देव जी ने इसी निर्गुणता की ओर संकेत करके लिखा है :

“सह सिआणपा लख होहि त इक न चलै नालि ।”

इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए गुरु अर्जुन देव ने भगवान के रूप को निम्न प्रकार से वर्णित किया है—

“जब निराकार, अदृश्य, अवर्ण, अरेखा, अविनाशी, अव्यक्त, अगोचर, निरंजन, निरंकार, अछल, अभेद, एकमात्र निर्गुण ब्रह्म था तब पाप-पुण्य, हर्ष-विषाद, मोह-मुक्त, बन्धन-मोक्ष, नरक-स्वर्ग, अवतार, शिव-शक्ति, निर्भय-भयभीत, जन्म-मरण, मान-अभिमान, छल-प्रपंच, क्षुधा-पिपासा, वेद-कतेव, शकुन-अपशकुन, चिन्ता-अचिन्ता, श्रोता-वक्ता आदि द्वैत भावों के लिए कोई स्थान नहीं था, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म स्वयं में ही प्रतिष्ठित था।”^६

परमात्मा के सगुण स्वरूप का भी गुरु दर्शन में विशद चित्रण हुआ है। निर्गुण को जैसा कि नाम से स्पष्ट है, गुणों से रहित माना जाता है। परन्तु गुरु दर्शन में ईश्वर के अनेक रूपों का गुणगान किया गया है। उसे सर्वशक्तिमान, दीनों का पालक, संकट मोचन के नाम से पुकारा गया है।

गगन में थालु, रवि चंदु दीपक बने, तारिका मंडल जनक मोती।

... ..

कैसी आरती होई ॥ भव खंडना तेरी आरती ॥

गुरु दर्शन में ईश्वर को सर्वव्यापी कहा गया है। “चारि कुट चउदह भवन सगल बिआवत, एथे तू है, आगै आपे।” ‘आपि जल थलि वरतदा’, ‘घरि इको, बाहरि इको आब धनंतरि आपि ॥”

ब्रह्म सर्व अन्तर्यामी है। वह सभी के हृदय में निवास करता है। घट-घट में व्याप्त है, घट-घट को जानता है। परमात्मा से कुछ भी छिपा नहीं है। प्रभु सर्वशक्तिमान है। गुरु अमरदास जी भगवान की सर्वशक्तिमानता के बारे में लिखते हैं—

हरि आपे मारे हरि आपे छोड़, मन हरि सरणी पड़ि रहीऐ।

हरि बिनु कोई मारि जीबालि न सकै,

मन होई निचिंद बिसनु होइ रहीऐ।

इस सारे संसार का सूत्रधार वह सर्वशक्तिमान, अन्तर्यामी, परमात्मा ही है। 'आपे ही है सूतधार पिआरा।' सृष्टि का सबसे बड़ा न्यायी भगवान ही है। वह अच्छे बुरे कर्मों का फल देने वाला है। विश्व के सारे चेतन-प्राणी अपने किये हुए कामों के लिए ईश्वर के आगे उत्तरदायी हैं। सत्य के तराजू पर वह सभी के कर्मों को तोलता रहता है। ईश्वर की न्यायपूर्ण दृष्टि से कोई बच नहीं सकता क्योंकि वह सर्वव्यापी है। आदि ग्रन्थ के अनुसार 'सभना दाता एक है, दूजा नाहीं कोई।' संसार के सभी प्राणी तो उसके याचक हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सदा उसकी दया के भिखारी हैं। उसके दिये हुए को आगे विभाजित करते हैं। ब्रह्माण्ड में ईश्वर ही सबसे बड़ा दाता है। सारी दुनिया का वह रक्षक है और उसको पालने वाला है, परन्तु विश्व-पालक केवल न्यायी ही बना रहे तो दुनिया का काम नहीं चल सकता। न्यायप्रिय के साथ-साथ परमात्मा क्षमाशील भी है। जिस प्रकार माता-पिता अपने पुत्र का ख्याल रखते हैं उसी प्रकार भगवान जीवों की रक्षा करता है।

अवतारवाद को लेकर गुरु दर्शन अन्तर्विरोधी रहा है। गुरु एकेश्वरवाद को मानने वाले थे। आदि ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर इस तथ्य को उद्घाटित किया गया है। गुरु नानक कहते हैं—'साहिब मेरो एको है। एको है भाई एको है।' गुरु अंगद देव जी लिखते हैं—'एक कृसनं सरव देवा, देव देवा त आतमा।' गुरु अमरदास जी के कथनानुसार—'नानक इकसु विनु मैं अवरु न जाणौ।' गुरु रामदास जी एकेश्वरवाद को प्रतिपादित करते हैं—'प्रभु एको अवर न कोई।'।

इस प्रकार गुरु दर्शन में परमात्मा के दोनों स्वरूपों का महत्वपूर्ण स्थान है।

सृष्टि-क्रम

सृष्टि के सम्बन्ध में गुरु नानक देव जी आदि ग्रन्थ में लिखते हैं—अगणित युगों पर्यन्त महान् अन्धकार था। न तो पृथ्वी थी और न आकाश था। प्रभु का अपार हुकुम मात्र था। न दिन था, न रात थी। न तो चन्द्रमा था न सूर्य। केवल शून्य मात्र था—वेद, पुराण, स्मृति शास्त्र कुछ भी न थे। पाठ, पुराण, सूर्योदय और सूर्यास्त भी न थे। वह अगोचर वह अलख स्वयं अपने को प्रदर्शित कर रहा था।^{१०}

सांख्य मत के अनुसार सृष्टि रचना के दो मूल कारण हैं पुरुष और प्रकृति। गुरु दर्शन इससे सहमत नहीं है। उसके अनुसार पुरुष और प्रकृति से भी परे ब्रह्म है। ब्रह्म या परमात्मा ने ही सृष्टि की रचना की। गुरु अंगद देव कहते हैं—'आपि साजि करे', गुरु अमरदास जी ने लिखा है—'आपे कारण करता करे', गुरु अर्जुन देव इस दृश्यमान जगत को परमात्मा ही का स्वरूप मानते हैं। गुरु नानक देव जी के अनुसार—

हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई ।

हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिल वडिआई ॥

...

...

...

हुकमे अंदरि सभु को वाहरि हुकमी न कोई ॥

परन्तु यदि इतना मान भी लिया जाए कि परमात्मा की आज्ञा से सृष्टि की रचना हुई तो उसके काल विराम का प्रश्न आता है। गुरु नानक देव जी इस सम्बन्ध में जपुजी में लिखते हैं—

कवणु सु बेला बखतु कवणु कवण तिथि कवणु वारु ।
 कवणि सिसती माहु कवणु जिनु होआ आकारु ॥
 बेल न पाइआ पंडतीं जि होवे लेखु पुराणु ।
 बखत न पाइओ काजीया जि लिखति लेखु भुराणु ॥
 थिति बारु न जोगी जाणै, सति माहु ना कोई ।
 जा करता सिरठी कउ साजे आपे जाणै सोई ॥ पउड़ी २१ ॥

सृष्टि की उत्पत्ति के मूल प्रश्न को भेदकर सब दर्शन धाराओं ने सृष्टि गुणों पर विचार किया है। गुरु नानक देव जी ने ज्ञान खण्ड के अन्तर्गत सृष्टि को अनन्त बताया है। गुरु अर्जुनदेव जी भी सृष्टि की अनन्तता पर आश्चर्यचकित होते हैं। सभी गुरु सृष्टि को अच्छे और बुरों का संगम मानते हैं। इन दुनिया में बुराईयाँ भी हैं और अच्छाईयाँ भी। गुरु अमरदास भी कहते हैं—‘खोटे खरे सुधि आपि उपाए ।’ आदि ग्रन्थ में सृष्टि को अनादि कहा गया है।

कई बार पसरियो सार, सदासदा इंकु एकंकार ।

गुरु अर्जुन देव इसी विषय पर भावुकता में कहते हैं, ‘जाकी लीला की गिति नाही ।’ गुरु दर्शन सृष्टि को मिथ्या नहीं बल्कि सत्य मानता है। यह माया ही नहीं यथार्थ है। आदि ग्रन्थ में लिखा है—

सच तेरे खंड सचे ब्रह्मंड । सच तेरे लोग सचे आकार ॥
 सचे तेरे करणे सरव वीचार ॥
 सति करमु जाकी रचना सति । मूलु सति, सति उत्पति ॥

यह तो हुई सृष्टि उत्पत्ति की बात—और सृष्टि का अन्त ।

जा करता सिरठी कउ साजे आपे जाणै सोई ॥
 प्रभु ते होए—प्रभु मांहि समाति ॥

माया

भारतीय दर्शन में माया की भयंकरता तो आदि काल से ही घोषित होती आ रही है। परन्तु अब जब से शंकराचार्य ने माया की सीमा को समस्त व्यक्त जगत तक परिवर्तित कर दिया, तब से—माया को लेकर अनेक प्रकार की खींचातानी होने लगी। जिस प्रकार शंकर ने कहा था कि माया ब्रह्म के ही अधीन है, उसी प्रकार गुरु नानक जी कहते हैं कि उसी निरंकार की आज्ञा से ‘माया मौह बणाइया’, परन्तु यह सारा संसार ही माया है। इसको गुरु दर्शन कभी स्वीकार नहीं करता। गुरु अर्जुनदेव जी तो स्त्री को ही माया कहते हैं। “ऐसी इसत्री एक राम उपाई ।” आदि ग्रन्थ में कई स्थानों पर माया को

शक्ति व प्रकृति भी कहा गया है। माया को प्रकृति का पर्यायवाची सम्भवतः प्रथम बार गुरु दर्शन में ही स्वीकृत किया गया है।

माया ब्रह्म की आज्ञाकारिणी दासी है। उसकी प्रत्येक आज्ञा को मानती है। प्रभु ने उसे बनाया ही आज्ञापालन के लिए है। आदि ग्रन्थ कहता है—‘आगिकारी कीनी माईया।’ माया का स्वरूप क्या है? इसका वर्णन गुरु अर्जुनदेव ने अत्यन्त भुन्दर रूपक द्वारा किया है :

इसके (माया के) माथे में त्रिकुटी है (त्रिगुण सत्त्व, रज और तम)। इसकी दृष्टि बड़ी ही क्रूर है। जिह्वा की फूहड़ होने के कारण सदैव कड़े वचन बोलती है। यह सदैव भूखी रहती है और प्रियतम को सदैव दूर समझती रहती है। राम ने ऐसी विलक्षण स्त्री की रचना की है। उस स्त्री ने सारे जगत् को खा लिया है किन्तु गुरु ने मेरी रक्षा की है। इसने अपनी ठगभूरि से सारे संसार को वशीभूत कर लिया है। इसके प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी मोहित हो गए।^{१८}

परन्तु मानव व देवता माया से अभिभूत कैसे हो जाते हैं—आदि ग्रन्थ में कहा गया है कि माया के पास कांचन व कामिनी दो हथियार हैं। इन्हीं से विश्व अभिभूत है ‘कंचनु नारी महि जीउ लुभनु है, मोहु मीठा माइआ।’ माया का क्षेत्र अनन्त है, इसका प्रभाव अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। कोई भी जड़-चेतन इसके प्रभाव से अछूता नहीं बचा है। गुरुओं ने स्थान-स्थान पर इसकी प्रवर्तता का संकेत दिया है :

‘माइआ मोहि सगलु जग छाइआ,
तिही गुणी त्रिभुवन विआपिआ,
‘त्रैगुण माईया मोहु पसारा सभ वरते आकारी।’

विश्व के कर्त्ता, पालक, संहारक, ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी माया के वशीभूत हैं। इन तीनों की उत्पत्ति माया से ही होती है। गुरु नानक देव जी लिखते हैं :

‘एका माई जुगति विआई तिति चेले परवाणु।
इकु संसारी इकु भंडारी, इकु लाए दीवाणु ॥३०॥

गुरु भ्रमरदास जी कहते हैं—‘ब्रह्माण वेद बारगी परगासी माइआ मोह पसारा।’ जब ब्रह्मा, विष्णु, महेश ही मायाधारी हैं तो दूसरे देवताओं की क्या विसात कि माया से लोहा ले सकें। ‘माया मोहि देवी सभि देवा।’

गुरु नानक माया की तुलना सास से करते हैं। जिस प्रकार सास बधू को पति के घर सुख से नहीं रहने देती, उसी प्रकार माया रूपी सास परमात्मा रूपी पति के घर जीव रूपी बधू को नहीं रहने देती। गुरु अर्जुनदेव जी इसी बात को अन्य रूपक से समझाते हैं :

‘पशु पक्षी जाल में पड़कर भी क्रीड़ा करते हैं। वे यह नहीं समझते कि सिर पर काल नाच रहा है। उसी प्रकार मनुष्य की दशा है। मनुष्यरूपी-पशु-पक्षी माया रूपी जाल में पड़े हुए हैं। वे माया के जाल में पड़कर भी निकलने की चेष्टा नहीं करते।

वे यह नहीं जानते कि उनके सिर पर काल मंडरा रहा है। बल्कि उल्टे वे मायारूपी जाल में ऋड़ाएँ करते हैं।^{१६} गुरु अर्जुनदेव का ही माया सम्बन्धी एक अन्य रूपक वाचनीय है—

‘कमला भ्रम भीति कमला भ्रम भीति हे,
तीखण मद विपरीत हे, अवध अकारय खान।
गहवर वन छोर, गहवर वन घोर हे,
गूह मूसन मन चोर हे, दिनकरो अनदिनु खात ॥१५१॥१४॥

गुरु अमरदास जी माया को सर्पिणी कहते हैं जो सारे जग से लिपटी हुई है—
‘माइआ होई नागिणी जगति रही लपटाई। और जो इसके चक्कर में फंस जाते हैं उनके बारे में आदि ग्रन्थ का मत है—

‘माइआ भूठु खनु केते बिललाहीं राम,
महामोह अंध कूप परिआ।
पार ब्रह्म माइआ पटलि विसरिआ ॥’

माया से छुटकारा पाने के लिए सत्संग और भगवत्कृपा की आवश्यकता है। नानक देव जी कहते हैं—‘कहु नानक जिनि धूरि सन्त पाई, ताके निकट न आने माई।’ गुरु अमरदास जी माया से छुटकारा पाने के लिए गुरुमुख की महत्ता का वर्णन एक सुन्दर रूपक द्वारा करते हैं :

‘माइआ होई नागिनी, जगति रही लपटाई।
इसकी सेवा जो करे निसहू कउ फिरि खाई।
गुरुमुख कोई गारूडु तिनि मलि दलि लाई पाई ॥’

और उससे भी आगे ‘प्रभु की ओट गही तव छूटो।’

जीव मनुष्य और आत्मा

जीव भगवान की सृष्टि का सबसे चेतनशील प्राणी है। जीव की उत्पत्ति कैसे हुई? इस सम्बन्ध में गुरु दर्शन अत्यन्त स्पष्ट है। जीव की उत्पत्ति ब्रह्म या उा निरंकार के हुक्म से हुई। जीव के स्वरूप के बारे में गुरु दर्शन पूर्ववर्ती दर्शनों से भिन्न है। शंकर जीव को नश्वर कहते हैं परन्तु गुरुनानक जीव को अमर कहते हैं क्योंकि जीव को बनाने वाला परमात्मा अमर है। परमात्मा की अमरता के कारण ही ‘तू न जीउ परै न डूवे तरै।’ गुरु अमरदास जी जीव को अनन्त कहते हैं। जीवों का कोई अन्त नहीं, परन्तु वे सारे एक सूत्र में पिरोए हुए हैं और वह सूत्र है ब्रह्म आदि प्राण्य का मत है कि जीवों के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों का उत्तरदायित्व ईश्वर पर है :

‘जीअ उपाइ रिनकु दे आपे सिरि सिरि हुकमु चलाइआ।
अजी उपाइ पिंडु जिनि साजिआ दित्ता पैनणु खाणु ॥

जीव अल्पज्ञ है, अपूर्ण है। परमात्मा पूर्ण और सर्वशक्ति-सम्पन्न है। अतः परमात्मा को छोड़कर जीव की कोई गति नहीं है। परमात्मा अनन्त सागर है जिसकी कोई थाह नहीं है और जीव की दशा उस बूंद के समान है जो सागर से अलग होकर अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। गुरु अर्जुन जी ने जीव की अल्पज्ञता व शक्ति हीनता का परिचय निम्न प्रकार से दिया है—

कठपुतली (जीव) बेचारी क्या करती है ? उस कठपुतली का सूत्रधार (परमात्मा) ही उसकी सारी गतिविधि को जान सकता है। उसका सूत्रधार जैसा उससे वेश धारण करायेगा, उस बेचारी को वैसा ही वेश धारण करना पड़ेगा। परमात्मा ने अनेक कोठरियों (जीवों) का भिन्न-भिन्न रूपों में निर्माण किया है। वही उन कोठरियों (जीवों) का रक्षक है। (गुरु ग्रंथ साहिब, पृष्ठ २०६) मायाग्रस्त होने के कारण ही जीव अनेकानेक योनियों में पड़ता है। जीव मोहवश कभी इधर कभी उधर भटकता फिरता है और उसकी स्थिति माया मिलीन राम जैसी हो जाती है। माया के कारण ही जीव कुमार्गों की ओर उन्मुख होता है और अनेक पाप करता है। पापों की यह पोतली जीव के सिर पर बढ़ती ही जाती है। जिस प्रकार मछली जाल में फँसकर तड़पती है उसी प्रकार जीव माया के जाल में फँस कर तड़पता है। जब माया का यह फँदा कट जाता है तो जीव परमात्मा के साथ लीन हो जाता है। गुरु अर्जुनदेव जी इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

निज जल महि जल आइ खटाना ।

तिठ जोती संगि जोति समाना ।

मिटे गए एलन पाए विषाम ।

पहले तो श्री सृष्टि के अनन्त जीवों की समष्टिगत चर्चा। अब उस अनन्त जीव समूह के सर्वश्रेष्ठ जीव मनुष्य की चर्चा गुरु दर्शन के अनुसार आवश्यक है। आदि ग्रन्थ मनुष्य योनि को भाग्य के सर्वश्रेष्ठ होने का प्रतीक मानता है। 'माणसु जनमु गुरुमुखी पाइआ, वडे भाग एहु शरीर पाईओ'। परन्तु बार-बार मनुष्य शरीर ही मिलता रहेगा ऐसा निश्चित नहीं है। इसलिए इसी जन्म में मोक्ष प्राप्ति का सर्वयत्न करने चाहिए।

मानस देह बहुरि नहि-गर्वाहि कछु उपाए मुक्ती का कर रे ।'

गुरु अर्जुनदेव जी अन्य योनियों को मनुष्य योनि से निकृष्ट बताते हैं :

'अवर योनि तेटी पनिहारी ।'

गुरु नानक मानव जीवन को निम्न वर्गों में विभाजित करते हैं—

१. मर्मावस्था, २. बाल्यावस्था, ३. यौवनावस्था, ४. वृद्धावस्था (पूर्व), ५. वृद्धावस्था (उत्तर) और ६. मरणावस्था।

परमात्मा की आज्ञा से मनुष्य आत्मा गर्भ में आती है और ईश्वर से प्रार्थना

करती है कि गर्भ से बाहर निकालो और कष्टों से मुक्ति दिलवाओ। गर्भ से बाहर मनुष्य बाल्यावस्था में आ जाता है। परन्तु यहां आकर वह गर्भ के कष्टों को भूल जाता है और यह भी भूल जाता है कि परमात्मा की कृपा से ही वह गर्भ के कष्टों से मुक्ति प्राप्त कर सका। मानव के कोमल मन पर सांसारिकता संस्कारित होने लगती है। आदि ग्रन्थ मनुष्य को चेतावनी देता है—‘चेति अचेत मूड मन मेरे अंति नहीं कछु तोरा’। बाल्यावस्था के बाद यौवनावस्था वह अवस्था होती है जब मनुष्य कंदन-कामिनी के मद में आकर परमात्मा को बिल्कुल विस्मृत कर देता है। धन और स्त्री के भोग में ही उसका समय व्यतीत होता है। परन्तु यौवन सदा सर्वदा तो नहीं रहता। जब सारा जीवन ही क्षण-भंगुर है तो यौवन की क्या विसात। वृद्धावस्था का प्रारम्भ होता है और वह क्षीण होने लगता है। यौवन में किए कुकर्मों पर पश्चात्ताप होने लगता है। ज्यों-ज्यों वृद्धावस्था का अतिक्रमण बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों—‘अखी अंधू, जीभ रस नाहीं, रहे पराक उताणा।’ और अन्त में—

‘खडू पकी कुड़ी भजै बिनसै आइ चलै किया माणु।’

(अर्थात् अन्त में अत्यन्त वृद्धावस्था का शरीर पके हुए तृण के समान कड़क-कर टूट जाता है और सारे मान समाप्त हो जाते हैं।) जीवन समाप्त हो गया, परन्तु जीवन था भी क्या ? धुएं का बादल। गुरु नानक देव जी कहते हैं—

‘ढंढोलियु ढूंढियु ढिठू, मैं नानक जग का धवलहर।’

जीव व मनुष्य का मूलाधार जो आत्मा है उसके बारे में गुरु चिन्तन क्या कहता है ? इसके बारे में गुरु अर्जुन देव का एक उद्धरण द्रष्टव्य है...

“शरीर के नष्ट होने पर, भला आत्मा कैसे नष्ट हो सकती है। शरीर पंचभूतों से निर्मित है। शरीर के नष्ट हो जाने पर उसके तत्त्व अपने तत्त्वों में मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ शरीर के नष्ट होने पर उसका पवन तत्त्व अपने पवन तत्त्व में, अग्नि तत्त्व अपने अग्नि तत्त्व में मिलकर एक हो जाता है। भला रोने वाले की क्या टेक है ? वह किसके मरने पर रोता है। इस शरीर में स्थित जो आत्मा है वह न तो मरा है और न मरने योग्य है। वह अविनाशी होने के कारण नष्ट भी नहीं होता। इसलिए जो व्यक्ति शरीर को ही आत्मा मानते हैं वे भ्रम में हैं। शरीर नश्वर है अतः वह आत्मा नहीं हो सकता। जो शरीर में पृथक् आत्मा को जानता है वह धन्य है। गुरु के भ्रम चुकाने पर ही वास्तविक आत्म-तत्त्व की प्रतीति होती है। वास्तविक शरीर में स्थित आत्मा न तो कभी मरती है और न कभी आती-जाती है..... परमात्मा ने तुम्हारे शरीर का निर्माण किया है। इसे सत्य जानो कि यह अवश्य मिट्टी में मिल जाएगा। ऐ गंवार, ऐ अचेत, शरीर के मूल को अर्थात् उसमें स्थित जो आत्मा है, उसे पहचानो। शरीर पर अभिमान करना व्यर्थ है। तुम इस संसार में केवल तीन सेर अन्न के मेहपान हो। अन्य वस्तुएं तुम्हारे पास परमात्मा की ओर से अमानत के रूप में रखी गई हैं।

यह शरीर विष्टा, अस्थि तथा रक्त का सम्मिश्रण है। उन पर चमड़ा लपेटा हुआ है। इस अस्थि रक्त और चमड़े की ढेरी पर तेरा अभिमान व्यर्थ है। इस शरीर में स्थित आत्मा तथा परमात्मा को जानने का प्रयास करो। इसी को जानने से पवित्र हो सकते हो नहीं तो सदैव अपवित्र बने रहोगे।^{१०}

मन

मन के सम्बन्ध में गुरु नानक देव जी कहते हैं—

‘साकत लोभी इहु मनु सूझा।’

गुरु अमरदास जी परमात्मा को भी मन के अन्दर निहित मानते हैं और कहते हैं उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं, वह तो मन के अन्दर है—

‘मन मेरिआ अंतरि तेरै विधानु है,
बाहर वसतु न मालि ॥

गुरु अर्जुनदेव जी इसे ‘अगम रूप का मन महियाना’ कहकर व्यक्त करते हैं। यह तो था मन का जोतिर्मय स्वरूप। मन का एक दूसरा पक्ष भी है। जिसे अहंकारी मन कहा जा सकता है। विपत्तियों का मूल कारण यह अहंकारी मन ही है। यह मन अत्यन्त प्रबल है, इसकी शक्ति का कोई पार नहीं है। अनेक उपायों के बावजूद भी वह अपने स्वभाव को नहीं त्यागता (इसका स्वभाव कुकर्म की ओर जाना है)। अपने साथ यह अनेक प्रकार के दुःख लाता है। देह को अनेक विधि से कष्ट देता है—

इहु मनुआ अति सबल है, छडे न कितै उपाय।

दुजे भाइ दुखु लाइया, बहुती देइ सजाई ॥

दशों दिशाओं में यह मन चलायमान रहता है और जीव को अमित करता रहता है—

‘मनु वह दिसि दिसि चलि-चलि भरमिआ,

अनुआ वह दिसि धावदा ओहु कैसे हरि गुण गावै।’

आदि ग्रन्थ में मन की चंचलता अत्यन्त सुन्दर रूपक द्वारा प्रकट की गई है—

काइया नगरिका इकु बालकु वसिया खिनु पलु थिरु न रहाई,

अनिक उपाय जतन करि धाके बारंवार भरमाई ॥

अर्थात् इस शरीररूपी नगर में बालकरूपी मन रहता है। जिस प्रकार बालक का स्वभाव अत्यन्त चंचल होता है उसी प्रकार इस मन का स्वभाव भी अत्यन्त चंचल है। पर मनरूपी बालक क्षण मात्र के लिए भी शान्त होकर नहीं बैठ सकता। बालक को वश में करने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करते रहें, लेकिन चंचल बालक भला कब वश में आता है। उसी प्रकार इस चंचल मनरूपी बालक को वश में

करने के लिए अनेक उपाय करके थक गए लेकिन यह बार-बार तंग कर रहा है। भ्रमित कर रहा है।

दर्शन में मन को मारने या वश में करने का बड़ा महत्त्व है। गुरु नानक ने भी इसी बात का संकेत निम्न पंक्ति में दिया है—

‘नानक इहु मनु मारि मिलु भी, फिर दुखु न होइ।’

गुरु अमरदास जी मन को मारने के लिए गुरु उपदेश की महत्ता को प्रधानता देते हैं—

‘नानक जे इहु मारिऐ गुरु सबदी बीचारि।’

गुरु तेगबहादुर जी ‘मन कहाविसारिओ राम नामु’ कह कर राम नाम द्वारा मन को वश में करना चाहते हैं। आदि ग्रन्थ में मन को गुरु द्वारा वश में करने की बात कही गई है—‘नाचु रे मनु गुरु के आगे।’ गुरु अर्जुनदेव जी कहते हैं—‘पार-ब्रह्म पूरण परमेश्वर मन ताकी ओट गहीजै रे।’ और इस मन निरोध का लाभ क्या है? गुरु अमरदास जी लिखते हैं।

मनु सबदि मरैता मुक्तो होके हरि चरणी चितु लाई ॥

गुरु दर्शन की इस सम्पूर्णता पर विचार करने के पश्चात् गुरु गोविन्द सिंह की चिन्तनधारा पर विचार करना अपेक्षित है। वास्तव में गुरु गोविन्द सिंह जी के दर्शन की आधारशिला का निर्माण गुरु नानक से लेकर नवें गुरु तेगबहादुर तक हो चुका था। इसीलिए गुरु गोविन्द सिंह जी की विचारधारा को अधिक गहराई से समझने के लिए ही पूर्ववर्ती गुरु दर्शन का सम्यक् विवेचन किया गया है।

श्री गोविन्द सिंह की चिन्तन धारा

(१) अकाल पुरुष का स्वरूप

आदि ग्रन्थ में ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में चित्रित किया गया है। गुरु गोविन्द सिंह भी परमात्मा के दोनों स्वरूपों को स्वीकार करते हैं। जापु साहिब व अकाल उसतति में इन दोनों रूपों का ध्यान किया गया है। गुरु साहिब ब्रह्म को अरूप, अनूप अर्थात् किसी पर आश्रित न, (अजन्मा), अमू (उत्पत्ति से रहित), अलेख (अलक्ष्य), अमेख, अताम, अकाम अमै, अजीत, अमीन, त्रिमान, विधान, त्रिवर्ग, असरग (स्वयंभू), अनीत (उज्ज्वल), अनादि, अजय, अजादि, अजन्म, अवर्ण, अमृत, अभरण, अगंज, अमंज, अजूझ, अभंझ (झगड़ों से दूर), (गंभीर अमीक) रफीक (दोस्त), अधंध (धन्धों से परे), अवंध, निरवूझ, अमूझ, अकाल अजाल, (जाल जंजाल से दूर), अलाह, अजाह, अनन्त, महन्त, अलीक (रेखाहीन), निरसीक (प्रतिद्वन्द्वी रहित), निरालम्ब, असंभ, अगंम, अजन्म, अछून, अलोक, अशोक, अधर्म, अभ्रम, अगाह, अमान, विधान, अनेक, मानते हैं (जापु २१-४२) किन्तु अन्त में पुनः घोषणा करते हैं—

फिर एक है"—(जापु, ४३) ।

ईश्वर के इसी स्वरूप का वर्णन करते हुए आगे गुरु गोविन्द सिंह जी लिखते हैं— "न उसका कोई नाम है, न स्थान है, न जाति है, न रूप है, न रंग है, न रेखा है । परमात्मा आदि पुरुष है, उदारता की मूर्ति है योनियों में न पड़ने वाला है, अशेष है । न उसका कोई देश है न कोई भेष है । जितनी भी दिशाएं हैं सभी ओर भगवान का अनुराग फैला हुआ है" (जापु, ४०)

परन्तु इसका भाव यह नहीं कि गुरु गोविन्द सिंह केवल निर्गुण स्वरूप को प्रमुखता देते थे । गुरु जी की दृष्टि में भगवान का सगुण स्वरूप भी उतना ही वन्दनीय है । वास्तव में गुरु जी समस्त सृष्टि को ब्रह्ममय स्वीकार करते थे । अतः निर्गुण-सगुण उनके आगे गौण विषय थे । गुरु जी लिखते हैं—

"ईश्वर कहीं तो देवताओं की सभा में विराजमान है, कहीं दानवों को पट्टी पढ़ाते हैं, कहीं इन्द्र को इन्द्रासन बरखते हैं, कहीं उससे पदवी छीनते हैं, कहीं विचार-कुविचार के चिन्तन में लीन हैं, कहीं वेद रीति के पालक हैं, कहीं वेद-विपरीत हैं, कहीं शस्त्रधारी हैं, कहीं विद्वत्ता के भंडार हैं, कहीं वायुहारी हैं, कहीं स्त्री आसक्त हैं, कहीं देववाणी, कहीं भवानी हैं, कहीं श्याम है, कहीं श्वेत हैं, कहीं धर्म-पालक, कहीं सर्व-व्यापक, कहीं जती, कहीं कामी, कहीं दाता, कहीं त्राता, कहीं जटाधारी, कहीं कंठी धारक ब्रह्मचारी, कहीं योगी, कहीं नागपत्नी, कहीं संन्यासी, कहीं मृत्युलोकवासी कहीं शस्त्रधारी, कहीं क्षत्रीय और संहारक, कहीं पृथ्वी के भार को उतारने वाले हैं । (अकाल उत्तति १३, १४, १५) । भगवान का यह स्वरूप मानव जीवन के इतना समीप है कि ब्रह्म व जीव के सब भेद सैद्धान्तिक स्तर पर चाहे तो सही परन्तु व्यावहारिक स्तर पर मिट जाते हैं । ईश्वर का यह स्वरूप मानव के सुख-दुःख का साथी है उससे दूर द्रष्टा मात्र नहीं ।

निर्गुण-सगुण के इस स्वरूप का वर्णन करते हुए भी गुरु गोविन्द सिंह जी गुरु दर्शन की मूल-धारा से कहीं कटे नहीं हैं । स्थान-स्थान पर गुरु जी उद्धोष करते हैं—

अनहद रूप अनाहद बानी ।

चरन सरन जिह बसत भवानी ।

ब्रह्मा बिसन अन्तु नहीं पायो ।

नेत नेत मुख चार बतायो ॥५॥ अकाल स्तुति ।

यही वचन नहीं—

कोटि इन्द्र उपइन्द्र बनाए ।

ब्रह्मा रुद्र उपाई खपाए ।

लोक चतुर्दस खेल रचाओ ।

'बहुत आप ही बीच मिलायो ॥६॥ अकाल स्तुति ।

परन्तु साथ ही गुरु जी की यह घोषणा भी द्रष्टव्य है—

‘कहु त्रिगुण अतीत कहुं सुरगुन समेत हों।’

“गुरु गोविन्द सिंह ने मध्यकालीन उत्तर भारत के सभी सम्प्रदायों द्वारा दिये गए ब्रह्म के नामों को ग्रहण किया... यद्यपि वे बार-बार इस तथ्य को स्पष्ट करते जाते हैं कि उसका कुछ भी नाम रख लिया जाए, वह रूपरहित, भेदरहित और नाम रहित है।”^{११}

(२) अवतारवाद

हिन्दू आस्था में अवतारवाद की पुरानी परम्परा रही है। भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन को पुनः पुनः अवतार धारण करने की बात कही है। गुरु गोविन्द सिंह जी भी विचित्र नाटक में अपने पूर्व जन्म की कथा का वर्णन करते हैं। उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण आदि को महापुरुषों के रूप में प्रतिपादित किया है। उनकी इन महापुरुषों के प्रति पूर्ण श्रद्धा है, परन्तु वे ब्रह्म के समकक्ष नहीं हैं।

चौबीस अवतार में गुरु गोविन्द सिंह ने पुराणों की अवतार कथाओं को ग्रहण किया। उन्होंने इन अवतारों की कथाओं को इस रूप में ढाला है कि उनमें धर्म युद्ध के लिए उत्साह और प्रेरणा मिलती है। उन्होंने ये लिखे ही इस उद्देश्य से थे और इनमें युद्ध प्रसंगों को ही अधिक विस्तार दिया गया है। वस्तुतः उन्होंने पौराणिक शैली को अपनाया, जो अवतारवाद की पोषक है।^{१२}

(३) आत्मा, जीव, आवागमन और मुक्ति

आत्मा को भगवद्गीता में अविनाशी अजर, अमर कहा गया है। आत्मा न जन्मती है, न मरती है। शंकराचार्य ने आत्मा को परमात्मा का ही भाग बताया है। परमात्मा सच्चिदानन्द है। आत्मा भी सच्चिदानन्द है। गुरु दर्शन में भी आत्मा के इसी स्वरूप को स्वीकार किया गया है। उसी परम्परा व चिन्तन के आलोक में गुरु गोविन्द सिंह आत्मा को स्वीकारते हैं। वे आत्मा को परमात्मा का ही रूप मानते हैं—

जैसे एक आग से कनूका कोट आग उठे,
न्यारे-न्यारे हुड़के फेर आग में मिलाहिगे।

जैसे एक धूर से अनेक धूर पुरत हैं,
धूर के कनूका फेर धूर ही समाहिगे।

जैसे एक नद ते तरंग कोट उपजत हैं,
पानि के तरंग सब पानि ही कहाहिगे।

तैसे बिस्व रूप ते अभून भूत प्रकट हुइ।

ता ही ते उपज सब ताही में समाहिगे ॥ अकाल स्तुति, ८७ ॥

सारा संसार उसी ब्रह्म में से पैदा होता है और उसी में समा जाता है। सारी सृष्टि में उसी ब्रह्म का अंश है, उसी की ज्योति है उसी का तेज है। विश्व के सभी

निम्न से निम्नतम प्राणी में भी उसी परमात्मा की आत्मा निवास करती है।

आत्मा ही जीव के अस्तित्व का आधार है। आत्मा तो अविनाशी व उस परम आत्मा का अंश मात्र है परन्तु जीव इस तथ्य को नहीं पहचानता। क्योंकि उस पर भाषा का पर्दा पड़ा रहता है। बेचारा दयनीय जीव। उसी की इन दयनीय अवस्था का वर्णन गुरु गोविन्द सिंह करते हैं—

जीत फिरै सब देय दिसान को बाजत डोल मूदंग नगारे।

गुंजत गूढ़ गजान के सुन्दर हंसत है हयराज हजारे ॥

भूत भविष्य भवान के भूपत कउन गनै नहीं जात विचारे।

श्रीपति श्री भगवान भजे विनु अन्त को अन्त के धाम सिधारे ॥

यह अन्त का धाम ही सभी जीवों का भाग्य है। योगी, यति, ब्रह्मचारी, बल-शाली, छत्रधारी, मान वाले राजा, महाराजा, दुर्योधन जैसे महाबली, संन्यासी, मात्र पवन भक्षण करके जीवित रहने वाले, अनेक विश्व प्रसिद्ध व्यक्ति, 'भोग भोग भूम अन्त भूम में मिलत हैं।' कबीर ने एक स्थान पर कहा है—“मन कांचे नाचे वृथा सांचे राचे राम।” इसी से मिलता-जुलता सम्बोधन गोविन्द सिंह जी ने जीव विषयक किया है—

कामना अधीन परिओ नाचत हैं नाचन सौं,

ज्ञान के विहीन कैसे ब्रह्म लोक पावई ॥

गुरु गोविन्द सिंह जी पुनर्जन्म सिद्धान्त के समर्थक जान पड़ते हैं। विचित्र नाटक में उन्होंने स्वयं अपने पहले जन्म की बात लिखी है। मोक्ष के लिए गुरु गोविन्द सिंह जी नाम स्मरण के पक्षपाती हैं। उनके अनुसार भगवान की भक्ति से जीव और ब्रह्म का द्वैत समाप्त हो जाता है और ज्योति अनन्त ज्योति में समा जाती है। भावना या भक्ति ही ब्रह्म प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है—‘एक भावना विहीन कैसे पावें जगदीश को।’ उनका कथन है कि यदि तुम ब्रह्म को पाना चाहते हो तो उसमें लीन हो जाओ। मानव, इन्द्र राजा, कुवेर, वेहद दान-स्तान करने वाले भी यम के फन्दे में फंसे रहेंगे। परन्तु ‘श्रीपति’ के चरण स्पर्श करने से वे फिर देह धारण नहीं करेंगे। उसके आश्रय में गये बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती।

(४) सृष्टि रचना

गुरु दर्शन में स्वीकार किया गया है कि निरंकार के ‘हुकुम’ से सृष्टि की रचना हुई। गुरु गोविन्द सिंह भी इसी भाव को चरितार्थ करते हुए लिखते हैं—

(१) जवन काल सभ जगत बनायो, देव दैत जच्छन उपजायो,

(२) नमस्कार तिसही को हमारी, सकल पूजा जिन आप सवारी,

(३) सगरी स्तिष्टि रचाई अचंभव, आदि जुगादि सरूप सुसंभव ॥’

इसी ‘हुकमी होवन आकार’ वाले दर्शन को आगे बढ़ाते हुए गुरु गोविन्द सिंह

जी कहते हैं—'लोक चतुरदस खेल रचाओं, जिह कीन जगत पसार, सब कीनी दीन जिमीन जमां, जिह रचियं सर्व मकीत मकां ।'

अपने सम्पूर्ण साहित्य में गुरुगोविन्द सिंह जी ने ब्रह्म को ही सारी सृष्टि का रचयिता, पालक, संहारक बताया है। विश्व का कोई भी जड़-चेतन ब्रह्म की आज्ञा के बिना नहीं बना। आकाश, पाताल, जल-थल, जड़-चेतन, अखिल ब्रह्मांड उसी की इच्छा का परिणाम है। सारा व्यवस्त स्वरूप उसी पारब्रह्म से प्रकट हुआ है और उसी में समा जायेगा।

(५) माया

कबीर ने माया को महाठगिनी कहा है। शंकराचार्य तो माया के पीछे लट्ठ लिये घूमते थे। सम्पूर्ण हिन्दू चिन्तन में आधि-व्याधियों के मूल में माया को ही कहा गया है। परन्तु गुरु दर्शन में माया को ब्रह्म की चेरी बताया गया है। माया जगत् को तो ठग सकती है किन्तु निरंकार ब्रह्म माया से अविचल रहता है। ब्रह्म ने ही तो माया का निर्माण किया है।

गुरु गोविन्द सिंह के माया विषयक विचार इतने सुस्पष्ट नहीं हैं। फिर भी उन्होंने इस विश्व की नश्वरता का हवाला देकर मनुष्य को सांसारिक मोड़, लोभ, धन, पुत्रादि के मोह में न फंसे के लिए कहा है। क्योंकि ये सब माया के ही शस्त्र हैं। सांसारिकता के बन्धनों को ही गोविन्द सिंह जी माया और माया का जाल कहते हैं। अकाल उसतति में उन्होंने निरंकार ब्रह्म को माया पति बताया है। माया का रचयिता वही ब्रह्म है। वास्तव में उसने माया का निर्माण ही जीवों की परीक्षा लेने के लिए किया है। जो जीव माया के पर्दे को चीरकर सफलतापूर्वक निकलता है, वही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

(६) साधना पद्धति

हिन्दू दर्शन में साधना पद्धति कर्म-प्रधान, ज्ञान-प्रधान व भक्ति प्रधान रही है। प्रत्येक युग में इन तीनों में से किसी न किसी पद्धति का ही बोलबाला रहा है। वैदिक युग में कर्म को प्रधानता दी जाती थी। उपनिषद् काल में ज्ञान योग की प्रमुखता व्याप्त हो गई। पुराण काल में कर्म और ज्ञान को छोड़कर भक्ति या भावना प्रमुख हो गई। परन्तु इसके कहने का भाव यह नहीं कि इन कालों में कर्म, ज्ञान या भक्ति से इतर साधना पद्धतियां लुप्त थीं या अस्तित्वहीन थीं। यहां अभिप्राय केवल प्रमुखता से है। भारत का मध्ययुगीन काल सम्प्रदायों के संघर्षों का अखाड़ा था। इनमें मूल ब्रह्म को छोड़कर बाह्याचारों को लेकर झगड़ने की प्रवृत्ति का बोलबाला था। सन्तकाल में इन बाह्याचारों का खण्डन करके भक्ति का सरल मार्ग प्रतिपादित किया गया। गुरु नानक ने ज्ञान की उपेक्षा भक्ति को महत्ता ही दी है। गुरुगोविन्दसिंह जी भी इसी परम्परा के साधक थे।

ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित करते हुए गोविन्द सिंह जी लिखते हैं कि विभूत

धारण करने मात्र से ईश्वर नहीं मिलता। विभूत तो गर्दभ और गज भी धारण किये रहते हैं, न ही नंगा रहने मात्र से ही ब्रह्म प्राप्त होता है, यदि ऐसा होता तो बन्दर आदि जीव सदा नंगे रहते हैं। गुरुजी लिखते हैं—‘एक ज्ञान के विहीन हीन कैसे कै तरत है’। इन्द्र जैसे बलशाली राजा, शिव जैसे तपस्वी, ब्रह्मा के समान वेद पाठी सभी ‘ज्ञान के विहीन काल फास के अधीन सदा जुगन की चौकरी फिराए ई फिरत है—ऐसा गोविन्द सिंह जी का मत है। ब्रह्म की प्राप्ति का साधन तो ज्ञान और भावना है, बाकी सब छल है, प्रपञ्च है। कष्ट सहने मात्र से भगवान नहीं मिलते, वन में वृक्ष भी तो एक पाँव पर खड़े होकर कष्ट सहता है, एक स्थान पर तपस्या करने से ब्रह्म प्राप्ति होती तो बेचारे शिलाखण्ड को तो देखो, कितने युगों से एक स्थान पर स्थित होकर तपस्या करना है और भ्रमण ? कव्वे और चीलें देश-देश में भ्रमण ही तो करती रहती हैं। वास्तव में ये सब ब्रह्म प्राप्ति के साधन नहीं हैं। वे तो सब बाह्य आवरण मात्र हैं। गुरु गोविन्द सिंह जी कहते हैं—

ज्ञान के विहीन महादान में न दूजै लीन,
भावना विहीन दीन कैसे के तरत है। अ० स्तुति ४॥

लेकिन ज्ञान को छोड़कर मनुष्य बाह्याडम्बरों में क्यों फँसता है? गुरु जी कहते हैं—

कामना अधीन परिओ नाचत है नाचन सों।

ज्ञान के विहीन कैसे ब्रह्म लोक पावई ॥ अ० स्तुति २॥

गुरु दर्शन में नाम स्मरण की अत्यन्त महत्ता है। नाम से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई और नाम स्मरण से ही मोक्ष मिल सकता है। गुरु गोविन्द सिंह जी कहते हैं—‘भक्ति के बिना शक्ति प्राप्त नहीं होती। होम, यज्ञ करने का कुछ अर्थ नहीं है। ईश्वर के ध्यान में लीन होकर नाम का स्मरण करना ही सर्वस्व है। उसके बिना सब ‘फोकट’ है। ॥ अकाल स्तुति। ४० ॥

केवल मात्र कृपानिधि ब्रह्म के स्मरण की ही महत्ता को स्थापित करते हुए गुरु गोविन्द सिंह जी लिखते हैं :—

जिह फोकट धर्म सभ तव है।

इक चित्त कृपानिधि को जप है।

तेऊ या भवसागर को तर है।

भव भूल न देहि पुतर दर है ॥ अ० स्तुति १५६ ॥

नाम का महत्त्व तो इससे भी अधिक है। वेद भी नाम के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। नाम के बिना करोड़ों द्रत सारहीन हैं। जो मनुष्य नाम के रस का थोड़ा-सा अंश भी चखता है, वह भूलकर भी काल के फन्दे में नहीं फँसता।

इक नाम बिना नहीं कोट व्रती।

इम वेद उचारत सारसुती।

जोऊ वा रस के चस केरस हैं ।

तेऊ भूल न काल कन्धा फसि है ॥ अ० स्तुति १६० ॥

साधना को पाखण्ड के आवरण में ढकने वाले पाखण्डियों पर गुरु गोबिन्द सिंह जी अत्यन्त लुब्ध हैं। उन पर उन्होंने डट कर प्रहार किये हैं। कहीं-कहीं भापा की कटुता; कबीर से होड़ लेती जान पड़ती है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

जैसे एक स्वांगी कहूं जोगी आ वैयागी बने,

कवहूं सन्यास भेस बनके दिखावई ।

कहूं पउनहारी कहूं बैठे लाइ तारी ।

कहूं लोभ की खुमारी सौं अनेक गुन गावई ।

कहूं ब्रह्मचारी कहूं हाथ पै लगाके वाटी,

कहूं डंडधारी हुइकें लोगन भ्रमावई ।

कामना अधीन परिओ नाचत है नापन सौं,

ज्ञान के विहीन कैसे ब्रह्म लोक पावई । अ० स्तुति ८२॥

गुरु गोबिन्द सिंह जी कहते हैं। अरे ! पत्थर को क्यों पूजते हो, गले में लिंग लटकाये क्यों घूम रहे हो अर्थात् इसमें कुछ सार नहीं। कोई पत्थरों को पूजता है, कोई मृतकों को पूजता है, सारा जग इन्हीं क्रूर क्रियाओं में उलझा हुआ है और ईश्वर को भेद, न पाइओ। परन्तु गोबिन्द सिंह जी के विषय में एक अन्य बात सराहनीय है कि उन्होंने जिन बातों का उपदेश दिया, उस पर आचरण भी किया। वे साधक पहले थे, उपदेशक बाद में।

इस प्रकार गुरु गोबिन्द सिंह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता व स्पष्टता के समर्थक थे, चाहे वह धर्म का क्षेत्र हो, चाहे दर्शन का, चाहे युद्ध का ही क्यों न हो। उनका तो जीवन का एक स्पष्ट उद्देश्य था। 'धर्म' हेतु गुरुदेव पठाये। 'इसी उद्देश्य के लिए वे जीवन पर्यन्त कर्मरत रहे। परिस्थितियों से हार उन्होंने कभी नहीं मानी। विजय का दर्शन ही उनका जीवन-दर्शन था, विजय की ललकती अभिलाषा ही उनकी जीवन अभिलाषा थी। उनके दर्शन की एक और विशेषता थी, वह थी उनकी निष्ठा व आत्म-विश्वास। जीवन में हुई किसी जय-पराजय के लिए उन्होंने अपने अधीनस्थ को कभी नहीं कोसा। वे अपने प्रभु के सामने उत्तरदायी थे और प्रभु उनके सामने उत्तरदायी था। किसी के लिए अभिशाप का एक शब्द भी उनके मुँह से नहीं निकला। उनके इसी जीवन दर्शन की ओर संकेत करते हुए विवेकानन्द ने लिखा है—'उस महान् गुरु गोबिन्द सिंह के समान, जिन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपना रक्त बहाया, रणक्षेत्र में अपने लाडले बेटों को बलिदान होते देखा, पर जिनके लिए उन्होंने अपना तथा अपने सगे सम्बन्धियों का रक्त चढ़ाया, उनके ही द्वारा परित्यक्त होकर वह शायल सिंह कार्य-क्षेत्र से चुपचाप हट गया और सुदूर दक्षिण जाकर चिरनिद्रा में खे गया। किन्तु जिन्होंने कृतघ्नतापूर्वक उनका साथ छोड़ दिया था, उनके लिए अभिशाप का

एक शब्द भी उस वीर के मुंह से न फूटा। यह है आदर्श उस महान् गुरु का।^{१३}

गोविन्दसिंह-दर्शन के सम्बन्ध में डॉ० जयभगवान गोयल का उद्धरण द्रष्टव्य है :—

“उनका न तो मुसलमानों से विरोध था, न इस्लाम से। विरोध था उन आसुरी शक्तियों से जो अन्याय, अधर्म, असत्य, अनीति, अत्याचार का प्रतीक है। किसी अन्य मत व सम्प्रदाय से भी उनका कोई विरोध नहीं था। विरोध था— बाह्याचार, आडम्बर, पाखण्ड, अन्धविश्वास और अज्ञान से और जीवन पर्यन्त एक सच्चे धर्म-योद्धा की भांति वे उनके विरुद्ध लड़ते रहे।.....देश-प्रेम, धर्म-प्रेम और प्रभु प्रेम यही उनका अमर सन्देश था। जाति-पाति, वर्ग, वर्ण भेद एवं वर्णश्रम के कट्टर विरोधी और मानव मात्र की एकता में दृढ़ विश्वास रखने वाले, सत्य और न्याय के लिए लड़ने वाले वे सच्चे धर्मवीर थे। उनकी जीवन-दृष्टि, आशामयी उत्साहपूर्ण और आशावादी थी और जीवनचर्या साहसपूर्ण, संयमित, संतुलित एवं मात्त्विक। उनको योद्धा का रूप सन्त की रक्षार्थ ही धारण करना पड़ा था। योद्धा रूप धर्म समर्पण का साधन था, साध्य नहीं। वस्तुतः वे सही अर्थों में सन्त-योद्धा थे।”^{१४}

संदर्भ

१. संस्कृति के चार अध्याय : डॉ० रामधारीसिंह दिनकर : पृष्ठ १ ३ ।
२. भारतीय चिन्तन परम्परा : के० दामोदरन, पृष्ठ ६५
३. वही, पृष्ठ १०५ ।
४. वही, पृष्ठ १७१ ।
५. गुरु नानक, जीवन, युग एवं दिशाएं : सम्पादक—निहालसिंह, पृ० १
६. श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन : डॉ० जयराम मिश्र, पृ० ७७ ।
७. वही, पृ० ६६ ।
८. वही, पृष्ठ १४८ ।
९. वही पृष्ठ १५५ ।
१०. वही, पृष्ठ १८२-८३
११. गुरु गोविन्दसिंह : विचार और चिन्तन : डॉ० जयभगवान गोयल, पृ० ७० ।
१२. वही, पृ० १५ ।
१३. नृत्तिष्ठत जागृत : सम्पादक— एकनाथ रानाडे, पृ० ४०
१४. गुरु गोविन्दसिंह—विचार और चिन्तन : डॉ० जयभगवान गोयल, पृ० ३२ ३३ ।

गुरु गोविन्द सिंह : कृति परिचय

आधुनिक आलोचना व साहित्य में रीतिकाल की उन कृतियों व कृतिकारों की चर्चा रही है जिनका सम्पूर्ण काव्य कौशल वासना की तंग कलुषित वीथियों में टिमटिमाकर रह गया है। इनसे इतर साहित्यकारों में केवल भूषण का नाम ही यथोचित सत्कार पा सका है। रीतिकाल के एक अन्य प्रमुख कवि, जिन्होंने इस काल की जघन्य प्रवृत्तियों से परे हटकर राष्ट्रीयता का शंखनाद किया, वारंता के गीत गाए, भक्ति भावना से सराबोर होकर आध्यात्मिकता का दीप प्रज्वलित किया, गुरु गोविन्द सिंह हिन्दी साहित्य से उपेक्षित क्यों रहे? यह आश्चर्य व खेद का विषय है। भाव पक्ष व कला पक्ष दोनों की दृष्टि से गुरु गोविन्दसिंह का साहित्य रीतिकाल के सभी कवियों से होड़ लेने में तो समर्थ है ही, साथ ही उनका भक्ति-साहित्य भी भक्ति-काल के कवियों से इक्कीस ही पड़ता है। उनके भक्ति-साहित्य में सूरदास की भाव प्रवणता, कबीर की प्रवृत्ति, तुलसीदास की गम्भीरता व मीरा का समर्पण एक साथ उपलब्ध होता है।

दशम ग्रन्थ गुरु गोविन्दसिंह जी का एकमात्र प्राप्य ग्रन्थ है जिनमें गुरु जी की विविध विषयों को लेकर लिखी गई रचानाएं उपलब्ध होती हैं। गुरु गोविन्दसिंह जी की भक्तिपूर्ण रचनाओं को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) विशुद्ध भक्तिपूर्ण रचनाएं : जापु, अकाल स्तुति, ज्ञान प्रबोध,

(ख) उद्देश्यपूर्ण रचनाएं : चौबीस अवतार, चण्डी चरित्र ।

दशम ग्रन्थ की मान्यता का अनुमान इन्हीं तथ्यों से लगाया जा सकता है कि प्रत्येक सिक्ख मन्दिर में इसकी एक प्रति आवश्यक मानी जाती है। दशम ग्रन्थ के विषय में कहा जाता है कि गुरु गोविन्द सिंह जी द्वारा समय-समय पर उच्चरित वाणी को बाद में भाई मनीसिंह जी ने संग्रहीत किया और इसका नाम दशम पातशाह का ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ। यही ग्रन्थ बाद में दशम ग्रंथ के नाम से जाना गया। इस ग्रन्थ में १७१६५ छन्द १६ प्रमुख रचनाएं व १४२८ पृष्ठ हैं। रचनाओं के नाम जापु, अकाल उस्तुति, विचित्र नाटक, चण्डी चरित्र (उक्ति विलास), चण्डी चरित्र दूसरा, बार श्री भगवती जी की, ज्ञान प्रबोध, चौबीस अवतार, ब्रह्मावतार रुद्रावतार, शब्द हजारे, सदैव खालसा महिमा, शास्त्र नामामाला, चरित्रोपाख्यान और जफरनामा है। क्रमबद्धता व संकलन

के संबंध में कुछेक विद्वानों में मतभेद भी है। डॉ० महीपासिह आत्मकथा भाग व अवतारों के सम्बन्ध में सभी कथाओं को मिलाकर विविध नाटक की रचना मानते हैं। वास्तव में ब्रह्मावतार व रुद्रावतार आदि कथाओं को अलग मानने का कारण उनके अन्त में 'इति श्री विचित्र नाटक ग्रन्थ रुद्रावतार प्रबन्ध' आदि लिखा होना है।

१. जापु साहिव

दशम ग्रन्थ में सर्वप्रथम संग्रहीत रचना जापु साहिव ही है। गुरु नानक के जपुजी व गोविन्दसिंह के जापु में परस्पर अत्यधिक साम्य है। जपुजी भी सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक भावभूमि पर आधारित है और जापु भी उससे कुछ भिन्न नहीं। जपुजी में भी बाह्य रूप से दिखाई देने वाले तर्क-जाल को फांद कर साधक जब अन्दर झांकने का प्रयास करता है तो उसे दर्शन की दुनिया से दूर श्रद्धा, भाव व आस्था की भूमि पर विचरण करने वाले गुरुनानक के दर्शन होते हैं। जापु में भी आस्थावान गुरु गोविन्दसिंह का अपने इष्ट देव का पुनि-पुनि स्मरण ही है।

वास्तव में जापु को भारत की सुदीर्घ स्तोत्र-परम्परा में रखा जा सकता है। जिसमें विष्णु सहस्रनाम आदि ग्रंथों का क्रम आता है। इसी के आधार पर सिक्ख मत के अनेक विद्वानों ने जापु में अकाल पुरुष की स्तुति की बहुलता देखकर उसे अकाल सहस्रनाम का नाम देना भी शुरू कर दिया था। परन्तु गहरे पठने पर परम्परावादी स्तोत्रों व जापु में एक स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। स्तोत्रों में प्रायः सगुण देवी-देवताओं का नाम स्मरण व गुण चित्रण होता है जबकि जापु का आराध्य देव निर्गुण निरंजन परमेश्वर है। जो अन्तर सगुण व निर्गुण ब्रह्म में है वही अन्तर स्तोत्र व जापु में है। जापु के आराध्य देव का स्वरूप देखिए—

चक्र चिन्ह अरु वरणा जात अरु पात नहिन जिह ॥

रूप रंग अरु रेल भेल कोड कहि सकति किह ॥

अचल मूरति अनुभउ प्रकास अभितोज कहिज्जं ॥

कोटि इन्द्र इद्रानि साहि सालणि गणिज्जं ॥

त्रिभुवन महोप सुर नर असुर नेत नेत वन त्रिण कहत ॥

तव सरव नाम करथै कवन करम नाख वरणन सुमत ॥

जापु के प्रतिपाद्य इष्ट की एक मात्र विशिष्टता उसका अकालत्व है। इसी की प्रतिष्ठा के लिए इस वाणी की समस्त भावराशि तथा नामावलि प्रयुक्त की गई है। इस दृष्टि से जापु के निर्गुण ईश्वर को अकाल की उपाधि प्रदान की गई है और अकाल ही गुरु कवि के पास ऐसा अभिधान है जो ईश्वर की अनेक अभिभूतियों और कवि की अभिप्रेत धारणाओं को व्यक्त करने की क्षमता रखता है। यही कारण है कि जापु में मंगल आख्यान के बाद जिस अभिधान वा स्मरण किया गया है वह अकाल ही है जिसके दर्शन 'नमस्त्वं अकाले, नमस्त्वं कृपाले, की प्रथम पंक्ति में होते हैं। इसी अकाल अभिधान को जापु के प्रणेता ने बार-बार दुहराया है।"

जापुसाहिव में कुल छन्द संख्या १६६ है। कुछ संग्रहों में २०० भी है। रचना में छोटे छन्दों का प्रयोग किया गया है। अलंकारों में अनुप्रास प्रधान है और छन्दों में भुजंग प्रयात। कुल १६६ छन्दों में से ६५ भुजंगप्रयात छंद है। एक छप्पय छन्द, ३२ चाचरी छन्द, ८ चरपट छन्द, १७ मधुमार छन्द, ४१ भगवती छन्द, ५ रसावल छन्द, १४ हरितोलयात छन्द, ८ एक अक्षरी छन्द हैं। नया छन्द शुरू करने पर प्रत्येक स्थान पर 'त्व प्रसादि' लिखा हुआ है। केवल एक स्थान पर जहाँ चाचरी छन्द के बाद भगवती छन्द के ३० पद्य प्रारम्भ होते हैं 'त्व प्रसादि' कथते, लिखा हुआ है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, जापु की भाषा तत्समपूर्ण हिन्दी है। परन्तु अरबी, फारसी के शब्द भी मिल जाते हैं। कहीं-कहीं संस्कृत शब्द के साथ फारसी शब्द सामूहिक अर्थ में भी जोड़ा गया है। जैसे—

कि सरवं कलीमै, कि परमं फहीमै

फारसी शब्द कलीम (शक्ति सम्पन्न) के साथ सर्वम तथा फहीम (बुद्धिमान) के साथ परम्। कई स्थानों पर संस्कृत शब्द के साथ फारसी प्रत्यय व इसका विलोम भी हुआ है; जैसे अनेक का अनैकुल सदैव का सदैवल आदि।

२. अकाल उस्तुति

अकाल उस्तुति गुरु गोविन्द सिंह जी की दूसरी विशुद्ध भक्ति प्रधान रचना है। गुरु गोविन्दसिंह के दार्शनिक विचारों व भक्ति भावना को समझने में यह रचना परम सहायक है। इस रचना का प्रारंभ 'उतारवासे दसखत का पातसाही १०' से होता है। इसके नीचे निम्न छन्द लिखा हुआ है—

अकाल पुरुख की इच्छा हमने
सर्व लोह दी रछिया हमने ॥
सर्व काल जी दी रछिया हमने।
सर्व लोह जी दी सदा रछिया हमने ॥

तदुपरान्त 'आगे लिखारी के दसखत' लिखा हुआ है।

'अकाल उस्तति' विविध छन्दों में लिखी गई २७१ पदों की विशुद्ध भक्ति-परक रचना है। इसका अन्तिम २७२ वां पद अपूर्ण है। इसका भाव शायद वेदों के नेति-नेति से लिया होगा, जिसका अर्थ है कि ब्रह्म अपार है। इसने बारे में कुछ पता नहीं चलता। रचना के बारे में प्रारम्भिक विचार निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(क) नामआधुनिक साहित्य में इसका नाम 'अकाल उस्तति' ही सर्व स्वीकृत है लेकिन कुछ प्राचीन प्रतियों में इसका नाम "अकाल पुरसु की उस्तति" व 'उस्तति श्री अकालजी की' भी है। परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है—आज के शोधशास्त्री इसको इतना महत्त्व नहीं देते क्योंकि इससे भाव में तो कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(ख) रचयिता

भाई मनीसिंह जी वाली वीड़ में 'अकाल उसतति, का प्रारम्भ निम्न प्रकार से होता है—

उतार खासे दसखत का ।

पातसाही । १० ॥

अकाल पुरख की रच्छा हमनं ।

सर्व लोह दी रछिया हमनं ॥

सर्व काल जी दी रछिया हमनं ।

सर्व लोह जी दी सदा रछिया हमनं ॥

(आगे लिखारी के दस्तखत)

इससे यही प्रमाणित होता है कि मंगलाचरण का पद गुरु गोविन्दसिंह जी ने स्वयं अपने हाथों लिखा होगा और आगे अपने हस्ताक्षर कर दिए होंगे। बाकी पाठ गुरु गोविन्दसिंह जी ने उच्चारित किया होगा और किसी अन्य ने लिखा होगा। (शायद भाई मनीसिंह जी ने।) रचना निस्सन्देह गुरु गोविन्द सिंह जी की ही है। अकाल उसतति की कई पंक्तियाँ जापु से समानता रखती हैं। जहाँ तक भावों का प्रश्न है, वे तो अकाल उसतति व जापु में समान ही हैं।

(ग) रचना काल

अकाल उसतति का रचना काल निर्धारित करते हुए श्री रणधीरसिंह जी लिखते हैं—'११वें से २००वें पद तक विक्रमी संवत् १७४३-५५ के मध्य में और २०१वें पद से आगे के सभी पद 'विचित्र नाटक' ग्रन्थ की प्रस्थापना हेतु विक्रमी संवत् १८५५ में लिखे गए। इन छन्दों की कुल संख्या २७२ हो गई परन्तु ये सभी एक ही समय नहीं लिखे गए।

(घ) रचना की पृष्ठभूमि

अकाल उसतति को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) अकाल पुरुष की स्तुति (१-२०० तक) तथा कुछ अन्य पद,

(२) आत्मा बुद्धि संवाद (२०१-२१०)

(३) चण्डी स्तुति (२११-२३०) ।

प्रथम भाग अकाल पुरुष की स्तुति, भाव व कथ्य के लिहाज से 'जापु' के अत्यन्त समीप है। जापु व अकाल स्तुति की ब्रह्म कल्पना न केवल समानता लिए हुए है वल्कि शब्द समानता भी दृष्टिगोचर होती है।

दूसरे भाग में आत्मा बुद्धिसंवाद की पृष्ठ भूमि उपनिषदों, गोष्ठियों व प्रश्नो-

त्तरियों में खोजी जा सकती है। 'चण्डी स्तुति' को पंडित नारायणसिंह 'भगवती पद्य' पुण्य बल स्तोत्र का स्वतन्त्र अनुवाद मानते हैं।

अकाल उसतति का मुख्य विषय उस अकाल पुरुष, ओंकार ब्रह्म की स्तुति रहा है लेकिन इसके साथ-साथ ब्रह्म को लेकर प्रचलित बाह्याडम्बरों का भी गुरु जी ने विरोध किया है। अकाल उसतति के गुरु गोविन्द सिंह सांसारिकता को भी त्याज्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में सारा संसार नश्वर है। सारे जीवों की मृत्यु अवश्यम्भावी है अतः भौतिकता से मोह रखती है, जो मूर्खता है। अकाल उसतति का स्वर भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर, बाह्य से अन्तर की ओर इंगित करता है।

(क) ब्रह्म का स्वरूप

अव्यक्त तेज अनभउ प्रकास ।
अच्छे सरूप अद्वै अनास ॥
अनतुट तेज अनखुट भण्डार ।
दाता दुरन्त सरव पुकार ॥१२१॥ अ० स्तुति ॥
आसन अडोल अनभूत कर्म ।
दाता दयाल अनुभूत धर्म ॥१२२॥ अ० स्तुति ॥

(ख) भौतिकता का खण्डन व जीव की नश्वरता

जोगी जती ब्रह्मचारी बड़े-बड़े छत्रधारी,
छत्र की ही छाया कई कोस लों चलत है ।
बड़े बड़े राजन के दावति फिरति देस,
बड़े-बड़े राजनि के दर्प को दलत है ।
मान से महीप औ दिलीप कैं से छत्रधारी
बड़े अभिमान भुजदण्ड को घरत हैं ।
दारा से दिली सर दुर्योधन से मानधारी,
भोग भोग भूम अन्त भूम में मिलत हैं ॥७८॥ अ० स्तुति

(ग) बाह्याचारों की निन्दा

तीरथ नहान दया दम दान सुसंजम नेम अनेक बिसेखैं ।
वेद पुरान कतेब कुरा-जमीन जवान सवान के पेखैं ।
पउन अहार जती जब धार सबै सुविचार हजारक देखैं ।
श्री भगवान भजे बिन भूपनि एक रती बिन एक न लेखैं ॥२४॥ अ० स्तुति

(घ) चण्डी स्तुति

दुरजन दल दंडन असुर बिहंडन दुसट निकंदण आदि ब्रिते ।

चहरासुर मारण पतित उधारण नरक निवारण गूढ़ गते ।

ऊँछे अखंडे तेज प्रचंडे खंड उदंडे अलख मते ।

जै जै होसी महत्वासुर मरदिनि संभकमरदिन छत्र छिते ॥२११॥ अ० स्तुति

“अकाल स्तुति गुरु गोविन्द सिंह जी की विशुद्ध भक्तिपूर्ण एवं पक्षपात रहित रचना है । गुरु गोविन्द सिंह जी की विभिन्न रचानाओं में उनके विभिन्न रूपों की प्रतिष्ठा होती है । रामावतार, कृष्णावतार और चण्डी चरित्रों में उनका एक पक्षीय रूप सामने आता है शत्रुसंहारक एवं मित्र रक्षक इन अवतारों की कथा का वर्णन वे भक्ति के भाव से नहीं वरन् तात्कालिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए करते हैं और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उनसे वर चाहते हैं । अकाल स्तुति में उनका निष्पक्ष रूप सामने आता है । यहाँ वे शत्रु, मित्र, सधर्मी, विकर्मी के भाव से परे हैं और विशुद्ध भेद रहित मानवता के उपासक हैं । गुरु गोविन्द सिंह जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व वाले व्यक्ति का भूतम रूप इसी रचना में सुखर होता है । जहाँ वे मनुष्य और मनुष्य की ईश्वर प्राप्ति में विविधतापूर्ण साधना केन्द्र में किसी प्रकार का अन्तर स्वीकार करने तैयार नहीं हैं ।

१. अकाल पुरुष के विविध रूप

‘अकाल उमतति’ में गुरुगोविन्दसिंह जी ने ब्रह्म के विभिन्न रूपों की वन्दना की है । इस स्तुति अथवा वन्दना में ब्रह्म के दोनों स्वरूपों—निर्गुण तथा सगुण की चर्चा की गई है परन्तु एक बात प्रथम दृष्टि से ही स्पष्ट हो जाती है कि गुरु जी का मन अकाल पुरुष या ब्रह्म के शान्त या ओजस्वी रूप को ही स्वीकार करता है । गुरु जी लिखते हैं—

प्रणवो आदि एकंकार ।

जल थल मही अल की ओ पसारा ॥

आदि पुरुष अविगत अविनासी ।

लोक चतुर्दस जोति प्रकासी ॥१॥

अकाल पुरुष का यही स्वरूप लगभग सारी रचना में छाया हुआ है । (चंडी स्तुति के कुछ पद छोड़कर जहाँ गुरु जी सगुणोपासक दीखते हैं ।) भावावेश में आकर गुरु जी ने चाहे कुछ स्थानों पर अकाल पुरुषके लिए सांसारिक कृत्य स्वीकार किए हैं—

कहूं शस्त्र धारी कहूं विद्या को बिचारी,

कहूं मावत अहारी कहूं नार के निकेत हों ॥१४॥ अ० स्तुति

परन्तु स्थान-स्थान पर वे अकाल के निर्गुण स्वरूप को स्पष्ट करते जाते हैं—

अनखंड अतुल प्रताप, सब थापियो जिही थाप ।

अनखेद, भेद अछेद, मुख चार गावत वेद ॥३४॥ अ० स्तुति

अकाल पुरुष के प्रणव व १ ओंकार (एकंकार) स्वरूप पर ही सिक्ख दर्शन का भव्य महल स्थापित हुआ है । गुरु गोविन्द सिंह जी ने भी इसे अकाल स्तुति के

आरम्भ में ही स्वीकार किया है। गुरु नानक देव जी भी 'जपुजी के आरम्भ में, १ ओंकारसतिनामु' कहते हैं। ऋग्वेद में भी कहा गया है : एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति, "एकमेक अद्वितीयं ब्रह्म" भारतीय संस्कृति में ओंकार का विशेष महत्त्व समझा जाता है। सिक्ख धर्म में १ ओं (१३) इस प्रकार लिखा जाता है। किन्तु अन्य स्थलों में ऊं (ऊंकार), ओ३म्, ओम्, ओंकार, ओङ्कार के रूप में भी लिखा जाता है। यह ओंकार निर्गुण सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्म का वाचक है। ओंकार को प्रणव भी कहते हैं।^२

गुरु गोविन्दसिंह जी ने ब्रह्म की 'काल' कहकर भी स्तुति की है। हिन्दू दर्शन में भी ब्रह्म को 'काल' स्वरूप माना गया है। विष्णु पुराण व अन्य ग्रन्थों में ब्रह्म को काल कहा गया है। अकाल स्तुति में भी उन्होंने २० छन्दों में चण्डी स्तुति की है। चण्डी दुर्गा तो है ही काल स्वरूपा भी है। गुरु जी जब उसकी 'महिषासुर-मर्दनी, प्रधरखन (दुष्टों के कलेजों को घड़काने वाली), प्रभच्छन (खा जाने वाली), चंडासुर, चंड-मुंड विमुंडन, खंड-अखंडन, रक्तासुर आंचन जुध प्रमाचन विदे नराचन, शोणत अंचिनी अनल विपंती, जोग जयंती खडग धरे' कह कर वन्दना करते हैं तो काल का स्वरूप और भी भयंकर हो जाता है।

अकाल स्तुति के प्रारम्भ में ही गुरु जी कहते हैं कि मुझको उस सर्वकाल की सत्ता प्राप्त है—

सर्व काल जी दी रछिआ हमनै ।

वह ब्रह्म तो सब का काल है परन्तु आप काल की फांसी से परे हैं।

सब को काल सवन को करता ।

.....

काल फास के बीच न आयो ॥१॥ अ० स्तुति ॥

वह जन्म मरण से परे है और कालविहीन है। हरि जनम-मरण विहीन, कल काल कर्म विहीन ! ब्रह्म स्वयं तो काल से परे है परन्तु सारे जगत् का काल उसकी मुट्ठी में बन्द है। ऐसा निश्चित है। गुरु जी सदा भयंकर के उपासक रहे हैं। उनका असली कर्म क्षेत्र तो युद्ध क्षेत्र ही था। कृष्णावतार, रामावतार में भी उन्होंने लीला की अपेक्षा युद्धों का अधिक सजीव वर्णन किया है। ब्रह्म का वात्सल्यपूर्ण रूप गुरु जी के लिए कुछ विशेष महत्ता नहीं रखता था और न ही समय को उसकी आवश्यकता थी। मुगल सत्ता से संघर्ष में ब्रह्म का काल स्वरूप ही प्रेरणामयी हो सकता था, लीला-मय स्वरूप नहीं। इसीलिए गुरुजी ने काल की वन्दना की है। काली का यह भयानक चित्र दिल दहलाने के लिए पर्याप्त है :

डांबर डबके ववर बबंके भुजा फंरकें तेज वरं ।

लकुडी आ फाधे आयुध बाधे सैन विमर्दन काल असुरं ।

अस्ययुध चमकें भक्षण दमकें अतिसित असकें फुकें फणं ।

जै जै होसी महिसासुर मरदिनी रम्भक मर्दन दैतजिणं ॥२१३॥

एक और चित्र देखिए—

दुष्ट हरता सृष्टि करता दयाल लाल गोविन्द ।
मित्र पालक सत्रु घालक दीन दयाल मुकुन्द ।
अघौदंडन दुष्ट खंडन काल हूं के काल ।
दुष्ट हरणं पुष्ट करणं सर्व के प्रतिपाल ॥१६४॥ अ० स्तुति

अकाल पुरुष के ये स्वरूप उद्देश्यपरक हैं । 'अकाल उसतति' में तो गुरु जी १ ओंकार, प्रणव के पुजारी हैं और उसके स्वरूप के बारे में भी अन्त में लिखते हैं—

आदि अन्त न मध्य जाको भूत भव्ये भवान ।
सत्य द्वापुर तृतीय कलियुग चतुर काल प्रधान ।
ध्याया ध्याय थके महामुनि गाय गन्धर्व अपार ।
हार हार थके सर्व नहीं पाईऐ तिहपार ॥१६६॥ अ० स्तुति ॥

२. अकाल पुरुष के लिए प्रयुक्त सम्बोधन

'अकाल उसतति' में गुरु गोविन्द सिंह जी ने ब्रह्म के लगभग सभी पूर्व वर्णित स्वरूपों को सम्बोधित किया है । (सम्बोधित का यहां परम्परागत अर्थ 'किसी का नाम लेकर पुकारना' न लिया जाना चाहिए, बल्कि इसका इतना ही भाव है कि गुरु जी ने ब्रह्म या अकाल पुरुष के सभी रूपों का वर्णन किया है ।) इनको चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

- (क) निर्गुण रूप को सम्बोधन । :
- (ख) संगुण रूप को सम्बोधन । : (सम्बोधन से स्तुति का भाव भी
- (ग) सांसारिक रूप को सम्बोधन । : लिया जा सकता है ।)
- (घ) शस्त्र धारी शत्रु संहारक रूप को सम्बोधन ।

अकाल उसतति विशुद्ध भवितपरक रचना है । इसमें सर्वत्र ब्रह्म का निर्गुण रूप छाया हुआ है । इसका विशद वर्णन तो आगे किया जाएगा परन्तु एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

वरण चिह्न जिह जात न पाता ।
सत्र मित्र जिह तात न भ्राता ।
सब ते दूरि सभन ते नेरा ।
जल थल मही अल जाहि वसेरा ॥४॥ अ० स्तुति

न रोगं न सोगं न मोहं न मातं ।
न करमं न भरमं न जन्मं न जातं ।
अद्वैखं अभैखं अजोनी सरूपे ॥६४॥ । अ० स्तुति

सगुण स्वरूप का रचना। न नहत्त्व गौण है परन्तु फिर भी कई स्थानों पर ब्रह्मको दीन-दयाल वैरी साल, महादानी, श्याम, भवानी, धर्मधामी, यति, योगी विद्या में प्रवीण, छत्रधारी आदि कहा गया है।

भूपन के भूप हो कि दाता महादान हो ।
 प्राण के वचंया दूध पूत के दिवैया ।
 रोग सोग के मिटैया किधौ मानी महायान हो ।
 विद्या के विचार हो कि अद्वै अयतार हो ।
 कि सिद्धता की सूरति हो कि सुद्धता की सान हो ।
 जीवन के जाल हो कि काल हूँ के काल हो ।
 कि सत्रन के सूल हो कि मित्रन के प्राण हो ॥१६॥ अ० स्तुति ॥

गुरु जी सदा कर्मक्षेत्रे, रणक्षेत्रे, धर्मक्षेत्रे जूझते रहे। अतः संसार से परे ब्रह्म का स्वरूप उनके चिन्तन को तो चाहे प्रभावित कर सके, उनके कार्य को कभी प्रभावित न कर सका। उन्होंने विश्व में रमने वाले अकाल पुरुष के रूप को सम्बोधित किया है। उन्होंने ब्रह्म का मानवीकरण किया है :

अनेजदकं मनसो जवीयो, नैनद्देवा आयुवन पूर्वमर्षन ।
 तद्भावतो न्यानत्येति निष्ठतस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥
 तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्धन्तिके ।
 तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यहाँ ब्रह्म और मानव का समन्वय किया गया है। वह सिद्ध भी है और शुद्ध भी है परन्तु रोग शोक को मिटाने वाला, दूध पूत देने वाला, महादानी भी है।

‘चण्डी स्तुति’ उपभाग के अन्तर्गत दुर्गा के शस्त्रधारी रूपा की भी स्तुति की गई है—

कारण करीली गरव गहीली जोत जतीली तुंदभते ।
 असटाङ्घ दमकण ससत्र भूमकण दामन दमकण आदि बिते ।
 डुकडुकी दमके वाघ वदंके भुजा फरंके सुधगते ।
 जे त्रै होसी महखासुर मरदानि आदि जुनादि अबादमते ॥२२८॥ अ० स्तुति॥

३. निर्गुण के लिए प्रयुक्त निर्गुण सम्बोधन

निर्गुण के विषय में चर्चा करने से पहले निर्गुण के स्वरूप को समझ लेना लाभदायक होगा। ईशावास्योपनिषद् में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है—

अर्थात् परमेश्वर अचल, एक मन से भी गतियुक्त, सबके आदि ज्ञान स्वरूप है। परमेश्वर को इन्द्रादि देवता भी नहीं पा सके। वे दूसरे दीड़ने वालों का स्थिर

रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके होने पर ही, उन्हीं की सत्ता शक्ति से वायु आदि देवता जल वर्षादि क्रिया सम्पादन करने में संमर्थ होते हैं। भाव वे चलते भी हैं और नहीं भी चलते, वे दूर से भी दूर हैं और अत्यन्त समीप से भी समीप हैं। वे इस समस्त जगत के भीतर परिपूर्ण हैं, वे इस समस्त जगत के बाहर भी हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को इस प्रकार कहा गया है—
‘नान्तः प्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं । अदृष्टव्यवहार्य-
ग्राह्यमलक्षणपचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकाव्यप्रत्यावसारं प्रपञ्चोपशयं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं
मन्यन्ते स प्रात्मा सविज्ञेयः’ ॥७॥ अर्थात् जो न भीतर की ओर प्रज्ञावाला है, न बाहर
की ओर प्रज्ञावाला है, न दोनों ओर प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, न जानने वाला
है, न नहीं जानने वाला है। जो देखा नहीं गया है, जो व्यवहार में नहीं लाया जा
सकता, जो पकड़ने में नहीं आ सकता, जिसका कोई लक्षण (चिह्न) नहीं है, जो
चिन्तन करने में नहीं आता, जो बतलाने में नहीं आ सकता, एकमात्र आत्म
सत्ता की प्रतीति ही जिसका सार है, जिसमें प्रपञ्च का सर्वथा अभाव है, ऐसा
सर्वथा शान्त, शिव अद्वितीय तत्त्व परब्रह्म का चौथा पांव है—वह परमात्मा है,
वह जानने योग्य है ॥७॥”

एक अन्य स्थान पर (प्रश्नोपनिषद् में) कहा गया है—“एतद्वै सत्यकाम परं
चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः ।” अर्थात् हे सत्यकाम, जो ओङ्कार है, निश्चय ही वह परब्रह्म
और अपर ब्रह्म भी है।^३

गुरु गोविन्दसिंह जी ने इस निर्गुण ब्रह्म की स्तुति, अकाल उसतति के प्रारंभ
में, उसे प्रणव व ओङ्कार कह कर ही की है—

‘प्रणवो, आदि, एङ्कारा ॥१॥

वह आदि पुरुष, अविगत, अविनाशी है—आदि पुरुष प्रविगत अविनाशी ॥१॥
उसका कोई वर्ण, चिह्न, जाति, पॉति नहीं है। न उसका कोई शत्रु है न कोई मित्र,
न उसका कोई तात है न भाई। वह सबके समीप भी है और सबसे दूर भी है। जल
थल नभ सब जगह उसका प्रसार है—

वरण चिह्न जिह जात न पाता ।

सत्र मित्र जिह तात न भ्राता ॥

सब ते द्वारि सभन ते नेरा ।

जल थल मही अल जाहि बसेरा ॥४॥ अ० स्तुति ॥

उपनिषदों में कहा गया है कि उस निर्गुण का पता इन्द्रादि देवता भी नहीं
पा सके। गुरुजी भी कहते हैं कि ब्रह्मा और विष्णु भी उस निर्गुण को खोजते हुए
असफल रह गये—

ब्रह्मा विसन अन्तु न पायो ।

नेत नेत मुख चार बतायो ॥५॥ अ० स्तुति ॥

गुरु गोविन्द सिंह जी इस निर्गुण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि उसकी रूपरेखा आदि कुछ नहीं जानी जा सकती । उसका निवास कहां है, इसका भी पता नहीं लग सकता । वह किस भेष में घूमता है यह भी अज्ञात है । वह परब्रह्म है, स्वयंप्रकाशी है, परम प्रज्ञा है, अछेद, व अक्षय आदि, अद्वैत, अविनाशी है । उसका जात पात रूप रंग कुछ भी तो नहीं है—

नहीं जात जाई कछू रूप रेखं ।

कहां बास ताको फिर कउन भेखं ।

कहा नाम ताको कहा कै कहावै ।

कहा कं बखानो कहै मैं न आवं ॥६३॥ अ० स्तुति ॥

परे अं परा परम प्रज्ञा प्रकासी ।

अछेदं अक्षय अवै अविनासी ।

न जातं न पातं न रूपं न रंगे ।

नमो आद अमंगे नमो आद अभंगे ॥६५॥ अ० स्तुति

वह निर्गुण स्वरूप अकथनीय, अनिवर्चनीय, अव्यक्त, अमूर्त, अक्षय स्वरूप वाला है—

निरुक्तं प्रभा आदि अनुक्तं प्रतापे ।

अनुक्तं अद्वै आदि अविक्ते अथापे ।

विभुगतं अद्वै आदि अच्छय सरूपे ॥१०३॥ अ० स्तुति

उपनिषदों में निर्गुण को ज्ञान स्वरूप कहा गया है । गुरु गोविन्द सिंह जी भी कहते हैं कि मन तो कामना के चक्कर में पड़कर अनेकों नाच नाचता है, भला ज्ञान के बिना ब्रह्म लोक की प्राप्ति कैसे हो सकती है—

कामना अधीन परिओ नाचत ईनाचन सों ।

ज्ञान के विहीन कैसे ब्रह्मलोक पावई ॥८२॥ अ० स्तुति

४. निर्गुण के लिए सगुण सम्बोधन

गुरु गोविन्द सिंह जी ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को ही स्वीकारते हैं और अत्यन्त तन्मय होकर उन्होंने निर्गुण का ध्यान भी किया है । अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर वे निर्गुण के लिए सगुण सम्बोधनों का भी प्रयोग करते रहे हैं । इसका भी एक कारण रहा है । गुरु जी की सारी जिन्दगी कर्मक्षेत्र और विशेषकर युद्धक्षेत्र में व्यतीत

हुई। ऐसे में ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप उनकी आत्मा को तो सन्तुष्टि प्रदान कर सकता था परन्तु उनके कर्म को प्रेरणा नहीं दे सकता था। अतः गुरु जी ने समय व परिस्थितियों के अनुसार निर्गुण के लिए सगुण सम्बोधनों का प्रयोग किया है। निर्गुण स्वरूप गुरु जी का बितन व उनका दर्शन है और उसका सगुण सम्बोधन उनका यथार्थ व कर्म है। सगुण स्वरूप की चर्चा करते हुए एक जगह कहा गया है—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं ।
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यातुं गम्भयं ।
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकयानाथम् ॥

अर्थात् जिसकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेष नाग की शैया पर शयन किये हुए है, जिसकी नाभि कमल है, जो देवताओं का भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत् का आधार है, जो आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त है, नील मेघ के समान जिसका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिसके सम्पूर्ण अंग हैं। जो योगियों द्वारा ध्यान करके प्राप्त किया जाता है, जो सम्पूर्ण लोकों का स्वामी है, जो जन्ममरणरूप भय का नाश करने वाला है, ऐसे लक्ष्मीपति, कमल नेत्र विष्णु भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ। गीता में सगुण निर्गुण भक्त के बारे में अर्जुन के प्रश्न पर उत्तर देते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं—
“वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है, अद्वैत भक्त भी मेरा ही है।”

गुरु गोविन्द सिंह जी भी ब्रह्म को निर्गुण के साथ-साथ सगुण कहकर सम्बोधित करते हैं :

कहूं त्रिगुण अतीत कहूं सुरगुन समेत हों ॥ १२ ॥ अ० स्तुति ॥

कहीं वह जटाधारी है, कहीं ब्रह्मचारी है, कहीं योगी है, कहीं साधक है, कहीं क्षत्रिय शस्त्रधारी है। ये सभी स्वरूप उस सगुण के ही तो हैं—

कहूं जटाधारी कहूं कण्ठी धरे ब्रह्मचारी,
कहीं जोग साधे कहीं साधना करत हो ।
कहूं कान फारे कहूं डण्डी होइ पधारे ।
कहूं फूक फूक पावन को पृथ्वी पै धरत हो ।
कहूं सिपाही हुइकै साधन सिलाहन कौ,
कहूं छत्री हुइकै अरि मारन मरत हो ।
कहूं भूप भार को उतारत हो महाराज,
कहूं भव भूतन की भावना भरत हो ॥ १५ ॥ अ० स्तुत ॥

एक अन्य स्थान पर गुरु जी उसे वेणुका बजाने वाला, गडओं को चराने वाला, उपालम्भ लेने वाला (कृष्ण के सम्बन्ध में गोपियां यशोदा को उपालम्भ देती रहती हैं) और सुन्दर कुमार कहकर सम्बोधित करते हैं—

कहूं घेन के बजैया कहीं घेनु के चरैया ।
कहूं लाखन लवैया, कहूं सुन्दर कुमार हो ॥ १८ ॥ अ० स्तुति ॥

वह सारे विश्व का सर्वदाता है, वह सब कुछ जानने वाला है, दीनबन्धु है, दयावान हैं—

सर्व दाता सर्व ज्ञाता सर्व को प्रतिपाल ।
दीन बन्धु दयाल सुआमी आदि देव अपाल ॥ १९० ॥ अ० स्तुति ॥

और अन्तिम उदाहरण 'अकाल उसतति' से नहीं बल्कि गुरु गोविन्दसिंह जी की 'प्रभु आराधना' से । सीमा उल्लंघन तो यह है ही लेकिन गुरु जी की सगुण के प्रति भाव तन्मयता का एक ही चित्र उनकी सगुण सरूप के प्रति धारणा को स्पष्ट कर देगा—

प्रभ जू तोकह लाज हमारी ।
नील कंठ नर हरि नारायण नील बसन बनवारी ॥ १॥ रहाऊ॥

परम पुरख परमेसर सुआमी, पावन पउन अहारी ।
माधव महा जोति मधु सरदन मान मुकंद मुरारी ॥ १॥

निरविकार निरजुर निद्रा बिनु, निरविख नरक जिवारी ।
क्रिपासिध काल त्रैदरसी कुकृत प्रनासनकारी ॥ २॥

घनुर्पाणि घृतमान जटाधर अनिविकार असिधारी,
हौ मति मंद चरण सरनागति, कर गेहू लेहि उवारी ॥ ३॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अकाल उसतति का बाह्य आवरण निर्गुण के अत्यन्त कठोर इस्पात से ढका हुआ है परन्तु बीच-बीच में कई बार सगुण की ज्वाला इस्पात को तपाकर भी लाल कर देती है ।

५. अकाल उसतति में ब्रह्म के कर्म नाम

ब्रह्म को शक्ति भी कहा गया है जो कर्म ब्रह्म या शक्ति करती है, वही नाम उसे दे दिये जाते हैं और जो जो कर्म वह शक्ति नहीं करती वह नाम भी ब्रह्म को 'न' वाचक अर्थ लगाकर दे दिये जाते हैं । यानि प्रथम प्रकार के नाम 'पोजिटिव' या सकर्मक और दूसरी प्रकार के नाम 'नेगेटिव' या 'अकर्मक' । 'अकाल उसतति' में प्रयुक्त ब्रह्म के नामों का भी इसी ढंग से अध्ययन किया गया है । परन्तु मैंने इसको सकर्मक या अकर्मक के खानों में विभक्त नहीं किया, क्योंकि एक तो अनेक विद्वान् इस 'नेगेटिव' व 'पोजिटिव' वाली क्लासीफिकेशन को स्वीकार नहीं करते दूसरे ब्रह्म की शक्ति को अकर्मक संज्ञा देकर सम्बोधित करना, 'अकाल उसतति' की भावना के भी

विपरीत होगा। साथ ही इसमें 'चण्डी स्तुति' के अन्तर्गत आने वाले पदों के चण्डी सम्बोधनों को भी नहीं रखा गया। क्योंकि चण्डी के सभी नाम व सम्बोधन एक विशेष देवी के प्रति हैं न कि उस अकाल पुरुष के प्रति, दूसरे वे नाम उद्देश्यपरक हैं और उनकी अनन्त ब्रह्म के सम्बोधनों में मिलावट रस के मार्ग को अवरुद्ध कर सकती थी। यह नाम संग्रह गणित की दृष्टि से शायद पूरा न उतरे परन्तु 'अकाल उसतति' की भावना को बहान करने में पूर्ण रूपेण समर्थ है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

अकाल पुरुष	अव्यक्त	अलेख	अभेख
सर्वलोह	अदोख	अद्वैत	ग्रपाल
सर्वकाल	अछेद	अभेद	अजंत्र
प्रणव	अमंत्र	सुतेज	अतंत्र
एकंकार	अजात	अपात	अमृत
आदि पुरुष	अमान	अरोग	अलोक
अविगत	अकर्म	अजय	अभय
अविनाशी	अमंड	अडंड	प्रचंड
अंतर्दामी	अतेव	अभेद	अजेव
अक्षय (अंछे)	सदा सिद्धिदा	परे अं (परब्रह्म)	परा
अनमेष	परम	प्रज्ञा प्रकासी	अमंगे
अविकार	अगाधे	असाधे	अदण्डे
अनहृद रूप	अभण्डे	प्रमाधे	अजोहं
अनकाल	अपालं	निरुक्तं	अनुक्तं
अवधूत	अनुगतं	अविगते	अमुगतं
अनभयं	पवित्रं	पुनीतं	अताकं
अछेव	एकतन्त्रे	पूर्ण प्रज्ञा	समस्ते
अकलंक	अनतुट तेज	अव्यक्त तेज	अनभउ प्रकास
निरंकार	सदीव	सनात	अनभूत कर्म
अनोच्छिज्ज	अखय	अमंग	अलख रूप
तेज	अव्याध	अनाद	अनधूत
उदार	अछूत	अनभंज प्रभा	अगंज
अनभिज्ज	अमंज	अभूत	अदेव
अनखंड	अभेव	अनाथ ना	अदोख
अनखेद	अदाग	असेख	विसेख
अमित्त	अप्रमान	अख्याल	पुरान
करीम	ख्याल	प्रिय	अराग
अरंग	वेअन्त	अनन्त	अनादि
निरधार	आदिनाथ	अविखाद	अवेह

अजीत	अनभीत	सर्व गज्जन	सर्व भज्जन
सर्व कर्ता	सर्व हरता	सर्व दयाल	सर्व लाइक
सर्व घातक	सर्व ज्ञाता	सर्व दाता	प्रतिपाल
दीन बन्धु	दयाल	स्वामी	प्रवीन
श्रीपति	श्री भगवान	दुष्ट गंजन	शत्रु भंजन
अथी दंडन	सृष्टि करता	गोविन्द	मुकन्द
काल के काल	सर्व खंडन	सर्व दंडन	निज भाम
सर्व भुगता	सर्व जुगता	विश्व भरता	अपार
अन्न दाता	ज्ञान दाता ।		

‘अकाल उसतति’ में गुरु जी ने एक अकाल-पुरुष को अपना इष्ट घोषित किया है ।

गुरु जी ने अकाल पुरुष को समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान स्वीकार किया है । उसके निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को प्रतिपादित किया है । वह सर्वव्यापक है । वह सत्तों को उभारने वाला और दुर्जनों को नष्ट करने वाला है । वह समस्त विश्व का कल्याण करने वाला है ।

अकाल उसतति में गुरु जी की अभिव्यञ्जना शैली भी विलक्षण है । उन्होंने अपने समय के सभी धर्मों और सभी प्रमुख भाषाओं के ब्रह्म-परक शब्दों को लेकर अकाल पुरुष की प्रशंसा को लिपिवद्ध किया है ।^५ ✓

निष्कर्ष रूप में ‘अकाल उसतति’ एक प्रशस्ति है जिसमें व्यक्त और अव्यक्त प्रभु के गुणों का बखान कर इन सबका ‘अकाल’ रूप से अन्तर्भाव कर दिया गया है । अकाल का प्रतिष्ठापन ही इस वाणी का चरम लक्ष्य है ।^५ ✓

३. विचित्र नाटक

दशम ग्रन्थ में गुरु जी की आत्म-कथा का खण्ड, विष्णु के चौबीस अवतार, ब्रह्मा के सात अवतार व रुद्र के दो अवतार—इन सभी को मिलाकर विचित्र नाटक के नाम से जाना गया है । इसका सुस्पष्ट कारण भी है । इन सभी रचनाओं के प्रकरणान्त में : ‘इति श्री विचित्र नाटक ग्रन्थे...’ धिआई समाप्त सुभ मस्त,’ लिखा हुआ है । कुछ विद्वान् आत्मकथा भाग को विचित्र नाटक के अन्तर्गत रखने के पक्ष में नहीं हैं । वे निम्न पंक्ति के आधार पर इसका नाम ‘अपनी कथा’ रखना अधिक सार्थक मानते हैं—

‘अब मैं अपनी कथा बखानी ।

तप साधन जिहि त्रिधि मुहि आनी ॥

परन्तु अब देवनागरी व गुरुमुखी आदि लिपियों में आत्मकथा खण्ड के लिए भी विचित्र नाटक नाम ही प्रचलित हो गया है। आत्मकथा व अवतार कथाएं जिस रचना का वर्ण्य विषय हों उसके लिए विचित्र नाटक नाम है भी सार्थक। अनादि काल से चला आ रहा यह विश्व कितना विचित्र है। मनुष्य जन्मता है, मरता है, कभी यहाँ प्रलय आती है कभी तूफान आते हैं और फिर नवनिर्माण होता है। जहाँ जल से प्यासा मानव प्राण त्यागता है वहीं लोग जल की अधिकता से उसमें डूब-डूब कर मरते हैं। कहीं अभाव है कहीं आधिक्य। एक बार व्यतीत होकर कभी न आने वाला काल। और काल के चक्र में पिसता मानव जीवन। बालपन, यौवन और वृद्धावस्था। सभी कुछ विचित्र ही तो है और गुरु जी का अपना जीवन क्या कम विचित्र है? पटना में जन्म और शैशव की किलकारियाँ, रणस्थल बना पंचनद। सारा जीवन संघर्षमय, संघर्ष जिसने पिता और पुत्रों को लील लिया और जीवन का अन्त हुआ सुदूर दक्षिण में। इसलिए यदि आत्मखण्ड को भी विचित्र नाम से पुकारा जाये तो इसमें अति-शयोक्ति क्या है?

विचित्र नाटक के आत्मकथा अंश में कुल १४ अध्याय व ३७० छन्द हैं। प्रथम अध्याय के १०१ छन्द मात्र स्तुतिपरक हैं। इनमें ६६ देव के अनेक रूपों का वर्णन हुआ है, परन्तु इसमें बहुलता इष्ट के वीर रूपों की ही है—

सुभं जीभ ज्वालं ॥ तु दाढा करालं ॥
वजी नवं सरवं ॥ उठे नाद वरवं ॥ ३३ ॥
करं वाम चापं कृपाणं करालं ॥
महातेज तेज विराजे विसालं ॥
महादाढ़ दाढ़े सु सौहं अपारं ॥
जिवे चर्वीयं जीव जगं हजारं ॥ १८ ॥

काल का भयंकर रूप गुरु गोविन्द सिंह जी को अत्यन्त प्रिय रहा है। आत्म-कथा में काल के भयंकर, रौद्र, वीभत्स रूप का वर्णन गुरु जी ने जिस तन्मयता के साथ किया है वह अद्वितीय है। मधु कैटभ जैसे बलवान राक्षसों का काल ने दमन कर दिया। शुंभ निशुंभ और रक्तबीज जैसे दानवों के उसने पुरजे-पुरजे कर डाले। पृथु और मानधाता जैसे बड़े बड़े महीप भी, जिनके अजेय रथ का चक्र सातों द्वीप में घूमता था, काल के खड़ग से बच नहीं सके।

‘बली पृथ्वीअं मानधाता महीपं ॥
जिनै रत्थ चक्रं किए सात दीपं ॥
भुजं भीम भरथं जगं जीत डडयं ॥
तिनै अन्त के अन्त को काल खगडयं ॥ ६५ ॥

‘विचित्र नाटक’ के शेष तेरह अध्यायों में गुरु जी के जीवन में हुए असंख्य युद्धों का वर्णन है। योद्धा द्वारा स्वयं अपने द्वारा किए युद्धों के वर्णन उस काल के संदर्भ

को देखते हुए साहित्य की अति मूल्यवान् सम्पत्ति समझी जा सकती है। दूसरे युद्धों में स्वयं भागीदार होने के कारण युद्धों का जो सजीव वर्णन आत्मकथा में हुआ है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। वंश वर्णन, पूर्व जन्म व इस जन्म की घटनाओं के बाद भगाणी, नादोन खानजादा तथा हुसैनी युद्ध का सजीव, यथार्थ तथा ओजस्वी वर्णन किया गया है। पाऊंटा साहिब में फतेहशाह से हुए युद्ध में महन्त कृपाल तथा नन्द चन्द के घात प्रति-घात कितने सजीव बन पड़े हैं, यह देखते ही बनता है—

क्रिपाल कोपीय कुतको संभारी । हठी खान हयात के सीस झारी ॥
उठी छिच्छि इच्छ कड़ा मेक्ष जोरं । मनो माखन मटकी कान्ह फोरं ॥
तहां नन्द चन्द कीयो कोपु भारो । लगाई बरछी क्रिपाणं सभारो ॥
तुटी तेग त्रिखी कड़ जमदंड । हठी राखीयं लज्ज वंसं सनदंड ॥
तहां मात लेयं क्रिपाले क्रुद्धं । छकियो छोम छत्री मों जुद्ध सुद्ध ॥
सहै देत आपं महावीर बाणं । करो खानवानोन खाली पलाणं ॥
हडियां साहब चन्द खेतं खजियाणं । हने खान खूनी खुरासन मानं ॥
तहा वीर बंके भली भांति मारे । बचे प्राण लेके सिपाही सिधारे ॥

(दा१०)

योद्धाओं के भाव, अनुभाव क्रोध, शस्त्र संचालन, युद्ध कुशलता, रक्त प्रवाह आदि का सजीव वर्णन नेत्रों के सामने आ जाता है।

यह रचना वीर रस प्रधान है। सम्पूर्ण युद्ध कथाओं में वीररस का पूर्ण संचार है। भाषा हृदयग्राहिणी व भावों की अनुगामिनी है तथा हृदय से सीधा सम्बन्ध स्थापित करने में पूर्णतया समर्थ है।

गुरु गोविन्द सिंह द्वारा रचित चरित काव्य शैली में यह एक ऐसा वीर काव्य है जिसमें किसी देवी देवता या अन्य वीर पुरुष के चरित्र में अनेक अतिमानवीय, अलौकिक अथवा चमत्कारपूर्ण घटनाओं का समावेश करके उसकी वीरता, शौर्य, दृढ़ता, साहस, पौरुष आदि गुणों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा नहीं की गई, वरन् यह गुरु जी के अपने जीवन से संबन्धित है और उसमें आत्मकथा की सत्यता, यथार्थता एवं सहजता है। तटस्थ आत्मनिरीक्षण एवं प्रभावपूर्ण आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से यह एक आदर्श, उत्कृष्ट एवं विशिष्ट रचना है। यह अत्यन्त विश्वासपूर्ण, दृढ़ स्वच्छ एवं आकर्षक शैली में रचित मनोहर आत्मकथा है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की साहसिक एवं ओजस्वी पद्यात्मक आत्मकथा नहीं मिलती। परन्तु इस रचना का उद्देश्य केवल मात्र आत्माभिव्यक्ति अथवा आत्म प्रकाशन नहीं है, आत्म विज्ञापन तो बिल्कुल नहीं। शहीद के पुत्र और शहीदों के पिता शिरोमणि योद्धा गुरु गोविन्द-सिंह ने इस काव्य ग्रन्थ की रचना भी असहाय एवं निराश भारतीय जनता में जातीय स्वाभिमान, राष्ट्र प्रेम व धर्म रक्षा के उच्च भावों को जाग्रत करने एवं उत्तेजित करने के महान् उद्देश्य से ही की है।^६

४. चण्डी चरित्र (प्रथम) उक्ति विलास

चण्डी सम्बन्धी गुरु गोविन्दसिंह की तीन प्रबन्ध रचनाएं प्रायः हैं। दो हिन्दी में तथा एक “चण्डी दी वार,” के नाम से पंजाबी में। परन्तु पंजाबी की रचना आकार में हिन्दी की रचनाओं से कहीं पीछे है। हिन्दी में भी चण्डी सम्बन्धी प्राप्त रचनाओं को दो अलग प्रबन्धों के रूप में जाना जाता है। चण्डी चरित्र (प्रथम) तथा चण्डी चरित्र (द्वितीय)। चण्डी चरित्र प्रथम २३३ छन्दों की पद्यवद्ध रचना है। सामान्य प्रकाशनों में इसे सात अध्यायों में विभाजित किया जाता है। एक अध्याय अपूर्ण है। परन्तु कई प्रकाशनों में अध्याय विभाजन अन्यथा भी है। डा० जयभगवान गोयल ने अपने “गुरु गोविन्दसिंह का वीर काव्य” ग्रन्थ में इस प्रबन्ध को केवल तीन अध्यायों मधु कैटभ वध, महिषासुर वध, धूम्रनयन वध में विभाजित किया है। प्रथम चण्डी चरित्र में मारकण्डेय पुराण में वर्णित देवी माहात्म्य का स्वतन्त्र अनुवाद भी है जिसे अनुवादक ने स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है।

ग्रन्थ के आरम्भ में १२ छन्दों में ब्रह्मा व चण्डी की स्तुति मधु व कैटभ आदि राक्षसों का विष्णु द्वारा वध अंकित है। ग्रन्थ रचना में भगवत्कृपा का उल्लेख करते हुए गुरु जी लिखते हैं—

कृपा सिन्धु तुमरी कृपा, जो कछु मो परि होई ।
रचो चन्द्रका की कथा, वाणी शुभ सम होई ॥

द्वितीय अध्याय के ४० छन्दों में महिषासुर से युद्ध व उसके वध का वर्णन है। तृतीय अध्याय में ४८ छन्द हैं। इनमें शुंभ-निशुंभ दैत्यों का प्रगति करना व चण्डी का उदय होना, राक्षसों से भयंकर युद्ध होना, और अन्त में माग जाना वर्णित है। मारकण्डेय पुराण के ८५ वें अध्याय में भी काली उतारि का प्रकरण आता है। गुरुजी ने भी उसी रूप में उसे अपने उक्ति विलास में वर्णित किया है। गुरुजी काली उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं :

भाल को फेर के काली भई ॥
लखि तांछवि को कवि को मन भोनो ।
दैत समूहि बिलसनि को,
जमराज ते मृत मनो भव लीनो ॥

काली के युद्ध से घबराकर शुंभ निशुंभ रण-स्थल से भाग गये। देवी ने सब दैत्यों का नाश कर दिया। केवल एक दैत्य को छोड़ दिया। वह दैत्य शुंभ-निशुंभ को युद्ध की सारी सूचना देने चला गया। दैत्य राज शुंभ ने देवी से लड़ने के लिए चण्ड मुण्ड नाम के राक्षस भेजे। चतुर्थ अध्याय में देवी का इन्हीं दैत्यों से युद्ध वर्णित है। भयंकर युद्धो-

परान्त दोनों दैत्य देवी के हाथों मारे गये ।

मुंड महान मद्धि हनिउ फिर कै बरचन्द तबै इह कीनौ ।
मार विदार दई सब सैन सु चन्दका चन्द सो आहक कीनौ ॥
ले बरछी कर में अरि को सिर कै बर माहि जुदा कर दीनौ ।
जैसे महेस त्रिसूल गणेश को डरुंकोड जन मुंड वहीनौ ॥११६॥

चण्ड मुण्ड के मारे जाने के बाद शुंभ और निशुंभ ने देवी को पराजित करने के लिए रक्तबीज के नेतृत्व में विशाल वाहिनी भेजी । पंचम अध्याय में इसी युद्ध का वर्णन है । रक्तबीज को वरदान मिला हुआ है कि जहां उसके रक्त की एक बूंद भी गिरती वहीं अनेकों रक्तबीज पैदा हो जाएंगे । जब दुर्गा ने रक्तबीज का वध असम्भव देखा तो उसने अपने मस्तक से काली को जन्म दिया । तब चण्डी ने रक्तबीज का वध किया और काली ने उसका रक्त पीकर वरदान को निष्फल किया ।

चंडी काली दुहू मिलि कीनी इहै विचार ।
हुउ हनिहौं तूं सउन पीअरि दलि हारिमारि ॥११७॥

रक्तबीज के वध और दैत्य वाहिनी की पराजय की बात सुनकर शुंभ-निशुंभ अति क्रोधित हुए । दोनों स्वयं नेता सहित चण्डी से युद्ध करने को उद्यत हुए । इतना भयंकर युद्ध चण्डी ने कभी नहीं किया था । विष्णु इत्यादि देवता भी घबरा गए । उन्होंने चण्डी की सहायता को अपनी सेना भेजी । देवताओं की सभी शक्तियां चण्डी में लीन हो गईं । कई दिनों तक युद्ध चलता रहा । अन्त में निशुंभ भी देवी के हाथों मारा गया । चण्डी ने क्रोधित होकर तलवार से उसका सिर काट लिया—

चन्द प्रचन्द तवे बलधार संभार लई करवार करी करि ।
कोप दई निशुंभ कै सीस वही इह भांत रही तखा तर ।
कउन सराह करै कहिता दिन सो बिब होइ परै धरती पर ।
मानहु सार की तार लै हाथ चलाई है सावत हो सबुगनी ॥१२२॥

सप्तम अध्याय में चण्डी और शुंभ के युद्ध का वर्णन है । जब शुंभ को अपने भाई निशुंभ के मारे जाने का समाचार प्राप्त हुआ तो वह अपनी समस्त सेना लेकर युद्ध भूमि में आ डटा । अपने भाई का मृत शव देखकर वह क्रोधोन्मत्त हो उठा । युद्ध के भयंकर घात प्रतिघातों में चंडी ने उसके दो टुकड़े करके उसे पृथ्वी पर फेंक दिया और विजय का शंख बजा दिया ।

सुंभ मारिकै चन्दका उठी सु संख बजाई ।
तक धुनि फंटा कीकरी महामोहि मन पाई ॥२२२॥

रचना का अन्तिम अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है । दैत्यों के विनाश से शान्ति स्थापित हो गई । देवताओं ने चण्डी की स्तुति की । देवताओं का उद्देश्य तो पूर्ण हो गया । परन्तु कवि ने यह रचना किस उद्देश्य से की ? क्या केवल कौतुक वश ?

कउतक हेत करि कवि ने,
सतसया की कथा इह पूरी भई है ॥

परन्तु कौतुकता किसी दरबारी कवि या अन्य कवि का उद्देश्य हो सकता है। गुरु गोविन्दसिंह जी का उद्देश्य कौतुकता नहीं हो सकता। चण्डी चरित्र का रचयिता मूलतः एक महान् विद्रोही है जो अपने युग के आसुरी शासन को नष्ट करने के लिए सन्नद्धता प्राप्त कर रहा है। अर्थात् वह धर्मयुद्ध का आयोजन कर रहा है। उसका युद्ध केवल युद्ध ही नहीं है—धर्म युद्ध है। इस युद्ध की तैयारी के लिए उसे सैनिक चाहिए, स्वयंसेवक चाहिए, धन चाहिए, अस्त्र-शस्त्र चाहिए, हाथी-घोड़े चाहिए, रसद सामग्री, तम्बू-कनात आदि अनेकानेक वस्तुएं चाहिए। किन्तु ये तो बाह्य उपकरण हैं। क्या सैनिकों, अस्त्रों, हाथी-घोड़ों, धन और रसद-पानी से युद्ध जीते जाते हैं। चण्डी चरित्र का रचयिता जानता था कि इन बाह्य उपकरणों की उपस्थिति में भी युद्ध हारे जा सकते हैं और इन उपकरणों के अभाव में भी युद्ध जीते जा सकते हैं। और वह वस्तु जो संघर्ष में विजय प्राप्त करती है, इन बाह्य उपकरणों में न होकर हृदय में होती है। चण्डी चरित्र में यह वही चाहता है। कवि का अपना निमित्त भी है।^{१०} वह निमित्त क्या है? कवि स्वयं उसका वर्णन करता है—

देहु सिवा वर मोहि इहै सुभ करमन तैं कवहं न टरौं ।
न डरौं अरिसौं जब जाइ लरौं निसचै कर आपुनि जीत करौं ॥
अरु सिख हौं आपुने ही मन को इह लालच हउ गुण तउ उचरौं ।
जब आव की अउघ निधान वनै अति ही रन में तव जूझ मरौं ॥२३॥

५. चण्डी चरित्र (द्वितीय)

चण्डी चरित्र (द्वितीय) में २६२ छन्द व आठ अध्याय हैं। कथानक की दृष्टि से इसका उक्ति विलास से बहुत कम भेद है। उक्ति विलास का प्रारम्भ छन्दों में ब्रह्म की स्तुति, आगे के छन्दों में मधु व कैंटभ राक्षसों की उत्पत्ति व विष्णु द्वारा उनका संहार, से होता है। परन्तु चण्डी चरित्र (द्वितीय) का सीधा प्रारम्भ महिषासुर प्रकरण से होता है। इस रचना के आठों अध्यायों में थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ उक्ति विलास की कथा को ही दोहराया गया है। चण्डी चरित्र प्रथम से द्वितीय की भिन्नता काव्य शैली को लेकर है। प्रथम में सर्वथा प्रमुख छन्द है और कवित्त दोहा, चौपाई का ही प्रयोग हुआ है। परन्तु द्वितीय में युद्ध-द्रुतता का साथ छन्द परिवर्तन द्रुतता ने दिया है। सम्पूर्ण रचना में १७ भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। जिनके नाम हैं—नाराज, रसावज, दोहा, भुजंगप्रयात, तोटक, चौपाई, मधुमार, रुआमल, कुलक, सोरठा, विनै, मनोहर, संगीत, भुजंगप्रयात, वेलीविद्रुम, वृद्धनाराज, संगीत, मधुमार और संगीत नाराज। ५७ बार छन्द परिवर्तन किया है। छन्दों में सब

से अधिक संख्या रसावल की है। उसकी संख्या ७२ है। छन्द विविधता की बात बाकी १६ छन्दों की न्यूनाधिक संख्या से स्पष्ट हो जाएगी—

मुजंगप्रयात ७२, नाराज १७, दोहरा १४, तोटक ४, चौपाई २०, मधुभार १२, रुआमल १५, कुलक ४, सोरठा १, बिन २, मनोहर १, संगीत मुजंगप्रयात ७, वेली-विद्रुम १२, वृद्ध नाराज १, संगीत मधुभार ७, संगीत नाराज १।

गुरु जी की चण्डी चरित्र रचनाओं को लेकर साहित्यिक जगत् में अच्छा खासा बावैला मचा है। सबसे ज्यादा आपत्ति इन रचनाओं के कर्ता को लेकर है। इन रचनाओं में अवतारवाद की कल्पना पर स्वीकृति की मोहर लगाई गई है। अतः कुछ साहित्यिक शूर गुरु गोविन्दसिंह जी को इन रचनाओं के लेखक पद से च्युत करने के लिए कमर कसे हुए हैं। उनका कहना है कि ये रचनाएं गुरुजी के किसी दरबारी कवि की उपज है। डॉ० रतनसिंह जग्गी इन शूरवीरों की पंक्ति में नये-नये शामिल हुए हैं और गुरु जी को लेखक पद से च्युत करने वालों में अग्रणी हैं। वास्तव में जो लोग इस दृष्टि से सोचते हैं उनकी दृष्टि साहित्यिक कम और साम्प्रदायिक अधिक है। गुरु जी की उपर्युक्त रचनाएं समसामयिक परिस्थितियों की उपज हैं और अवतारवाद की प्रशस्ति न इन रचनाओं का ध्येय है और न गुरु जी का लक्ष्य। वास्तव में इन रचनाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए तत्कालीन परिस्थितियों और गुरु जी के धर्मयुद्ध का स्मरण मात्र कर लेना पर्याप्त होगा। साम्प्रदायिकता का चश्मा उतारकर शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करते समय तो अवतारवाद किंचितमात्र भी बाधा उपस्थित नहीं कर सकता।

“वस्तुतः गुरु गोविन्द सिंह की शक्ति-भावना उनकी युग-चेतना, राष्ट्रीय-जागरण, संस्कृति की सचेतनता और उजागर वीर-भावना की परिचायक है और सिक्ख धर्म की आध्यात्मिक चिन्तन धारा के सर्वथा अनुकूल है।”

६. ज्ञान प्रबोध

गुरु गोविन्द सिंह जी की ज्ञान प्रबोध रचना को कथानक के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम १२५ छन्द गुरु जी की विशुद्ध भक्ति भावना के परिचायक हैं। इनमें अकाल पुरुष की स्तुति विविध गुणों द्वारा की गई है। भगवान् निर्गुण हैं, निराकार हैं, रूप, गुण, वेश आदि की पहुंच से परे हैं। परन्तु गुरु जी ने उसे दुष्टों के दलनकर्ता के रूप में भी चित्रित किया है —

खल बल दल हरणं दुष्ट विदरणं असरणं सरणं अमित गतं ।

चंचल चख चारण मच्छ विडारण पाप प्रहारणं अमित मतं ॥

आजात सुबाहं साहन साहं महिमा महं सरव मई ।

जल थल धन रहिता वन जिन कहिता खलदलि रहिता सुनरिसही ॥

द्वितीय अंश के प्रारम्भिक भाग में दार्शनिक चिन्तन ही अधिक हुआ है, ब्रह्म क्या है ?

डोवियो न डुवे सोखियो न जाई ॥ कटियो न कटे न वाटियो वटाई ॥

छिज्जे न नेक सत्त सख पात ॥ नाहिं सत्र मित्र नहीं जात पात ॥ २६॥

ब्रह्म की इस परिभाषा की गीता से कितनी समता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३॥ भगवद्गीता

इसके बाद चार वर्गों (धर्मों) का वर्णन किया गया है । राजधर्म, दानधर्म, भोगधर्म और मोक्षधर्म । कथा का प्रारम्भ युधिष्ठिर की कथा से होता है । युधिष्ठिर ने जम्बु द्वीप पर पांच सौ वर्ष राज्य किया । तदुपरान्त राज्य सूत्र क्रम से परीक्षित, जनमेजय (असमेध, असमेधान, अर्जैसिंह) जम से होता हुआ जम के पुत्र मुनी के पास पहुँचा । मुनी बड़ा पराक्रमी राजा था । उसने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया । इसके बाद कथा सूत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है । इससे ऐसा आभास होता है कि यह रचना अधूरी है । इसका अन्तिम भाग किसी भाँति नष्ट हो गया होगा ।

७. चौबीस अवतार

गुरु गोविन्द सिंह जी द्वारा रचित चौबीस अवतार गुरु जी की सर्वाधिक विवादास्पद रचना है । इसके कर्तृत्व को लेकर जितना हड़कम्प मचा है उसका भी अपना इतिहास है । उन सभी की चर्चा यथास्थान की जाएगी । इस रचना में विष्णु के चौबीस अवतारों ब्रह्मा के सात व रुद्र के दो अवतारों का विभिन्न छन्दों में रोचक वर्णन किया गया है । कुछ अवतारों की चर्चा अत्यन्त संक्षेप में व कुछ का विशद वर्णन मिलता है । रामावतार व कृष्णावतार का आयाम इतना बड़ा है कि स्वतंत्र प्रबंध रचना मालूम होती है । विष्णु के चौबीस अवतारों में से भी चौदह प्रमुख व दस को गौण माना गया है । चौबीस अवतारों के नाम इस प्रकार हैं—

१. मत्स्य	२. कच्छप	३. नर	४. नारायण	५. मोहिनी
६. वराह	७. नृसिंह	८. वामन	९. परशुराम	१०. ब्रह्मा
११. रुद्र	१२. जालन्धर	१३. विष्णु	१४. शेषशायी	१५. अर्हन्त देव
१६. मान राजा	१७. धन्वन्तरि	१८. सूर्य	१९. चन्द्रमा	२०. राम
२१. कृष्ण	२२. अर्जुन	२३. बुद्ध	२४. कल्कि	

ब्रह्मा के सात अवतारों की नामावली इस प्रकार है—

१. बाल्मीकि	२. कश्यप	३. शुक्र	४. बृहस्पति
५. व्यास	६. षट्ऋषि	७. कालिदास ।	

रुद्र के दो अवतारों के नाम दत्तात्रेय व पारसनाथ हैं । विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन करने से पूर्व कवि ने ३८ छन्दों में ब्रह्म की स्तुति की है । कवि के अवतारनाद सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझने में ये छन्द अति सहायक हैं । उसके बाद

मत्स्य, कच्छप, नर-नारायण और महामोहिनी अवतारों का ३५ विविध छन्दों में वर्णन है। संखासुर राक्षस को मारने के लिए मत्स्य, समुद्र-मन्थन में मंदराचल का भार वहन करने के लिए कच्छप व सागर-मन्थन से निकले रत्नों का देव-दैत्यों में बंटवारा करवाने के लिए नर-नारायण और महामोहिनी का अवतार विष्णु ने धारण किया। इन सभी अवतार वर्णनों में प्रायः युद्ध चित्रण की ही प्रमुखता रही है। युद्ध चित्रण यथार्थ के निकट व सजीव बन पड़ा है। दोनों ओर सेनाएं डटी हैं व घोर युद्ध हो रहा है :

लगे ठाम ठामं दमामं दमंके ।
खुले खेत मी खग खूनी खिसंगे ।
भए क्रूर भातं कमाणं कडवके ।
नचे वीर वंताल भूतं भड़वके ॥

वराह अवतार का वर्णन कुल १४ छन्दों में है। नृसिंह अवतार की कथा पौराणिक कथाओं से थोड़ी भिन्न है। पौराणिक कथाओं में नृसिंह व हिरण्यकश्यपु युद्ध वर्णन नहीं मिलता। वहां तो नृसिंह दैत्य को अपनी जांघों पर रखकर चीर देता है। परन्तु गुरु जी ने ३० पदों में दोनों पक्षों का घोर युद्ध दिखाया है। अन्त में हिरण्यकश्यपु नृसिंह के हाथों मारा जाता है। २७ छन्दों में विष्णु के आठवें वामन अवतार का वर्णन है। वामन रूप में भगवान ने वलि राजा से यज्ञ के अवसर पर अढ़ाई पग भूमि की याचना की और प्रार्थना स्वीकृत हो जाने पर दो पगों में पाताल और आकाश नाप लिया। आधे पग से वलि राजा को पाताल लोक धकेल दिया। ३५ पद्यों में भूलोक से क्षत्रियों का वीज नाश करने वाले परशुराम अवतार का वर्णन है। सात पद्यों में ब्रह्मावतार का वर्णन किया गया है। रुद्रावतार का वर्णन ८६ पद्यों में किया गया है। इसमें अधिकांश पद युद्ध-चित्रण को ही समर्पित हैं। रुद्र ने कई-एक दैत्यों का वध करके पृथ्वी के भार को हल्का किया। उन सभी का सजीव वर्णन गुरु जी ने किया है। इसके बाद जालन्धर अवतार और तदुपरान्त केवल पांच छन्दों में विष्णु अवतार का वर्णन किया गया है। जहां-जहां भी गुरु जी ने अवतार वर्णन प्रसंग को सप्रयास संक्षिप्त रखा है। वहां इसका स्पष्ट संकेत भी दिया है। विष्णु अवतार में कवि कहता है—

सकल कथा जड़ छोर सुनाऊं ।
विसन प्रबन्ध कहत स्रम पाऊं ।
ताते थोरीए कथा प्रकासी ।
रोग सोग ते राख अविनासी ॥

इसके बाद ७७ पद्यों में शेषशायी, अरहंतदेव, मनु राजा, धनवन्तरि, सूर्य व चन्द्र अवतार वर्णन है। इन सभी का वर्णन पौराणिक कथाओं के आधार पर ही किया गया है। जब संसार में वैभव बहुत बढ़ गया तो लोग वीमार होने लगे। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की तो धनवन्तरि अवतार का जन्म हुआ, जिसने आयुर्वेद का निर्माण किया—

रोगःकुल सब ही भए लोका, उपजा अधिक प्रजा को सोगा ।
परम पुरख की करी बड़ाई, कृपा करि तिन पर हरि राई ॥
बिसन चन्द को कहा बुलाई, धर अवतार धनन्तर जाई ।
आयुरवेद को करो प्रकासा, रोग प्रजा को करि बहुनासा ॥

रामावतार का वर्णन कवि ने अधिक मनोयोग से किया है। इस रचना में कुल ८६४ छन्द हैं। डॉ महीप सिंह ने संपूर्ण रचना का विभाजन रामचरित मानस के आधार पर निम्न ढंग से किया है :

१. बाल काण्ड—सीता स्वयंवर तक...	१५३ वें छन्द तक ।
२. अयोध्याकाण्ड—वनवास तक...	३३२ वें छन्द तक ।
३. अरण्य काण्ड—सीता हरण तक...	३५५ वें छन्द तक ।
४. किष्किंधा काण्ड—बालि वध तक...	३६५ वें छन्द तक ।
५. सुन्दर काण्ड—हनुमान की खोज, युद्धारम्भ तक.	३६५ वें छन्द तक ।
६. लंका काण्ड—सीता मिलन तक...	६५२ वें छन्द तक ।
७. उत्तर काण्ड—अन्त तक ...	८६४ वें छन्द तक ।

राम कथा का वर्णन प्रायः भारत में प्रचलित राम कथा के अनुसार ही है। सीता वनवास प्रसंग में सीता निर्वासन का वर्णन तो किया है लेकिन उसका कारण नहीं बताया। लव-कुश के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि एक बार समाधिस्थ वाल्मीकि की कुरिया से सीता अपने पुत्र को लेकर स्नान करने गईं। बाद में ऋषि की समाधि टूट गई। बालक को वहाँ न देखकर वे अत्यन्त घबराये व उन्होंने एक नये बालक की रचना कर दी। सीता के धरती में समाने के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है कि एक बार सखियों के कहने पर सीता ने रावण का चित्र बना दिया। राम शंकित हो गए तो सीता इस अपमान को न सहती हुई धरती में समा गई। उसके बाद चारों भाइयों ने भी योगाम्बास द्वारा नखर शरीर त्याग दिया।

हिन्दी रामकाव्य परम्परा में गुरु गोविन्द सिंह के रामावतार का अत्यन्त महत्त्व है। रामावतार एक और दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। क्योंकि राम-अवतार के राम तुलसी और केशव के राम दोनों से भिन्न हैं। तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, केशव के राम वैभवशाली राजा हैं। परन्तु गुरु गोविन्द सिंह के राम वीर और योद्धा हैं। जहाँ दूसरे रामकाव्यों में युद्ध वर्णन को गौण स्थान दिया गया है, वहाँ रामावतार का सम्पूर्ण वातावरण ही युद्धमय है। सम्पूर्ण रामावतार में ८६४ छन्द हैं और इनमें से ४०० से अधिक छन्दों में केवल युद्ध का ही वर्णन है। करुण, शृंगार तथा अन्य किसी प्रकार के वर्णन में कवि की दृष्टि अधिक नहीं ठहरती। उसकी रुचि युद्ध-चित्रणमें है और जहाँ कहीं भी उसे यह सुयोग मिलता है वह उसका पूरा लाभ उठाता है।^६

रामावतार के बाद विष्णु के २१वें अवतार कृष्णावतार का २४६२ छन्दों में वर्णन है। चौबीस अवतारों में आकार-प्रकार दोनों तरह से कृष्णावतार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। इस रचना का महत्त्व इस दृष्टि से और बढ़ जाता है कि इससे पहले हिन्दी में कृष्ण-चरित्र को लेकर प्रबन्ध काव्यों की कोई उत्साहवर्धक परम्परा नहीं थी। इस दृष्टि से भी कृष्णावतार अपने क्षेत्र में निपट अकेला स्तुति योग्य है। कृष्णावतार के अन्त में कवि ने रचना-काल का भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

सत्रह सें पैताल सहि सावन सुदि थिति द्वीप ॥

नगर पावटा सुभ करत जमना वहाँ समीप ॥२४६०॥

डॉ महीर्षिसिंह ने इस विशाल रचना को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न पांच भागों में विभाजित किया है।

१. बाल लीला	४४० छन्दों तक
२. रास मण्डल	४४१ से ७५६- छन्दों तक
३. मथुरा गमन-गोपी विरह	७५७ से १०२८ छन्दों तक
४. युद्ध प्रबन्ध	१०२९ से १९६२ छन्दों तक
५. स्फुट घटनाएं	१९६३ से २४६२ छन्दों तक

ग्रन्थ में इन अध्यायों का संकेत अवश्य मिल जाएगा ऐसा अवश्यक नहीं है परन्तु कहीं बीच में संकेत मिल जाए तो बात दूसरी है।

कृष्णावतार में कृष्ण के जन्म से लेकर अन्त तक प्रायः सभी घटनाओं का चित्रण है। परन्तु जितना मन गुरु जी का युद्ध वर्णन में रमा है, उतना शायद अन्य प्रसंगों में नहीं। बाल लीला, गोपी-विरह, रासलीला आदि वर्णन साधारण कोटि के ही हैं। इनमें मौलिकता कुछ नहीं है। ये प्रायः भागवत के दशमस्कन्ध के समानान्तर ही चलते हैं। विरह वर्णन में अन्य कृष्ण चरित्र काव्यों में प्रायः चुप रहने वाले नन्द बाबा की दयनीय दशा का चरित्र अवश्य हिन्दी साहित्य की अद्वितीय निधि बन गई है। १

कृष्णावतार का चतुर्थ भाग ९०० छन्दों का बृहद्-युद्ध प्रबन्ध है। सबसे महत्त्वपूर्ण व कला की दृष्टि से उत्तम खण्ड-युद्ध खण्ड ही है। यह भी कहा जा सकता है कि युद्ध खण्ड के लिए ही सम्पूर्ण कृष्णावतार काव्य की रचना की गई। युद्ध प्रबन्ध का प्रारम्भ जरासन्ध के युद्ध-प्रकरण से होता है। इस युद्ध में जरासन्ध के प्रमुख सेनापतियों का कृष्ण से युद्ध होता है और अन्त में सभी कृष्ण के हाथों मारे गये।

कृष्णावतार का यह विस्तृत युद्ध पौराणिक आधार पर खड़ा किया गया काल्पनिक भवन है। पृष्ठभूमि के कुछ पात्र जरासन्ध, कालयमन आदि तो पुराण उल्लिखित हैं, किन्तु इन कुछ पात्रों को लेकर युद्ध का इतना विशाल भवन खड़ा करना तो सम्भव न था, इसलिए कवि ने अनेक काल्पनिक पात्रों की रचना की। "कृष्णावतार की रचना के पीछे कवि का उद्देश्य अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की भांति विशुद्ध भक्ति भाव नहीं था। वे तो समाज में आत्म-गौरव का निर्माण एवं उसमें शक्ति संचार करने के

लिए प्राचीन भारतीय इतिहास एवं युगानुकूल आदर्शों की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। इस कार्य के लिए उन्हें देश-काल की सीमाओं का भी अतिक्रमण करना पड़ा किन्तु उन्होंने इसकी चिन्ता नहीं की।^{११०}

कृष्णावतार के बाद दस पदों में विष्णु के नर व बुद्ध अवतार का वर्णन किया गया है। अन्तिम अवतार कल्कि अवतार का ५८८ छन्दों में विस्तृत वर्णन है। कवि ने इस कथा को चार अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय में १६२ छन्दों में कलयुग की पापमय अवस्था का भीषण चित्र खींचा गया है। उसके बाद ब्राह्मण कथा का वर्णन है। ब्राह्मण चण्डी का उपासक है। उसकी पत्नी उसकी विरोधिनी है। अतः शूद्र राजा से शिकायत कर देती है। राजा ब्रह्मण को चण्डी पूजा के दण्डस्वरूप मृत्यु दण्ड देता है तब कल्कि अवतार का जन्म होता है। उसका शूद्र राजा से भीषण युद्ध होता है। अन्त में शूद्र राजा मारा जाता है। दूसरे-तीसरे अध्याय में कवि कल्कि द्वारा पश्चिमी, दक्षिणी व पूर्वी दिशाओं के राज्यों को जीतने का वर्णन करता है। चतुर्थ अध्याय में कल्कि की उत्तर विजय का वर्णन करता है। उसने चीन पर आक्रमण किया। चीन के राजा ने पराजय स्वीकार कर ली व कल्कि का स्वागत किया—

मिलिउ चीन राजा, भए सरव काजा ॥

लइउ संम कै कै, चलिउ अग्र ह्वै कै ॥५४॥

चारों ओर धर्म की चर्चा होने लगी। पाप नष्ट हो गया। लेकिन चारों दिशाओं का राज्य पाकर कल्कि अभिमान से भर गया। उसने दस लाख बीस हजार वर्ष राज्य किया। परन्तु बाद में उसने अकाल पुरुष को मुला दिया। तब अकाल पुरुष ने उसका संहार किया।

तिह तउन को वधु कीन, पुज आप मो कोअ लीन ॥५८७॥

विष्णु के चौबीस अवतारों के बाद ब्रह्मा के सात अवतारों का वर्णन हुआ है। प्रथम चार वाल्मीकि, कश्यप, शुक्र व वृहस्पति की चर्चा को तो १४ छन्दों में ही समाप्त कर दिया है। ब्रह्मा के पांचवें अवतार व्यास का २८४ पदों में वर्णन है। इसके बाद पद्म ऋषि महाकवि कालिदास का संक्षिप्त वर्णन है।

ब्रह्मा के सात अवतारों के बाद रुद्र के दो अवतारों दत्तात्रेय व पारसनाथ का वर्णन है। कुछ विद्वान् इस रचना को अधूरी मानते हैं। उनके अनुसार गुरु जी ने रुद्र के गोरखनाथ तक के सभी अवतारों का वर्णन किया है। परन्तु दुर्भाग्यवश वे नष्ट हो गये।

दत्तात्रेय अवतार का चित्रण भी काफी विस्तृत है। इसमें कुल ४६८ छन्द हैं। दत्त घर से साधना के लिए निकल पड़े। लेकिन सत्य प्रकाश के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। दत्त ने २४ गुरु धारण किये। चौबीसवां गुरु ज्ञान था। ज्ञान गुरु में ही वाकी सभी गुरु समा गए।

जै एक के रस भी न ॥ तिन चउबिसों रसि लीन ॥
जिन एक को नहीं बूझ ॥ तिह चउबिसों नहीं सूझ ॥

दत्तात्रेय के बाद ३५८ पद्यों में पारसनाथ अवतार का वर्णन है। पारसनाथ अपने गुणों के कारण अत्यन्त पराक्रमी राजा बन गए। लेकिन सत्ता मद से मदान्ध होकर उन्होंने राजमेध यज्ञ करने की सोची। इसमें एक लाख राजाओं का वध करना पड़ता है। लेकिन उससे भी पहले एक रहस्य जानना आवश्यक था जो अभी राजा पर प्रकट नहीं हुआ था। वह रहस्य महेंद्रनाथ ने पारसनाथ को बताया। वह रहस्य यह था कि पारसनाथ अविवेक को नहीं जीत सके। पारसनाथ अविवेक से बीस लाख वर्ष तक लड़ता रहा। लेकिन जब अविवेक को जीत नहीं सके तो अग्नि में भस्म हो गया।

८. शस्त्र नाम माला

दृष्टकूट शैली में लिखी हुई गुरु गोविन्दसिंह जी की शस्त्र नाम माला एक वैचित्र्यपूर्ण रचना है। वास्तव में उस युग में रहस्यवादी साधक अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए दृष्टकूट शैली का प्रयोग करते थे। गुरु जी ने शस्त्रों की स्तुति के लिए इसी शैली को अपनाया है। शस्त्र नाम माला १३१८ छन्दों की दीर्घ रचना है। इसे पांच अध्यायों में विभाजित किया गया है। इस सारी रचना में विभिन्न शस्त्रों का ईश्वरीकरण करके अनेक विविध छन्दों में उनकी स्तुति की गई है। वर्णित शस्त्रों की नामावलि इस प्रकार है—

सांग, सिरौही, सैफ, असि, तीर, वन्दूक, शूल, जमदाढ़, खंडा, भंजसा, वरछी, निखंग कटारी, वरछा, छुरी, ढाल, कवच, तलवार, बिछुआ, वांक, वज्र, गुरज, गदा, तुफंग, चारू, खंजर, छूरा, पाश।

रचना के प्रारम्भ में ही कवि कहता है कि ये अस्त्र-शस्त्र ही मेरे इष्ट देव हैं—

अस कृपान खंडो, खडग तुपक तवर अरु तीर ।

सैफ सरोही सैहथो यहै हमारे पीर ॥

दृष्टकूट शैली का एक उदाहरण भी द्रष्टव्य है। कृपान का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

कवच शब्द प्रियमै कहो अन्त सबद अरि देहु ॥

सभ ही नाम कृपान के जान चतुर जिअ लेहु ॥२८॥

अर्थात् पहले कवच शब्द कहो, फिर उसके साथ अरि शब्द लगा दो तब कृपान का अर्थबोध होगा।

जमदाढ़ (कटार) का वर्णन कवि इस ढंग से करता है।

उदर सबद प्रियमै कहो पुनि अरि सबद उचार ।

नाम सभे जमदाढ़ के लीनहु सुकवि विचार ॥२६॥

अर्थात् पहले उदर शब्द कहो, फिर अरि शब्द का उच्चारण करो । जो शब्द बनेंगे उससे जमदाढ़ (कटार) का ही बोध होगा ।

६. चरित्रोपाख्यान

दशम ग्रन्थ की सबसे दीर्घ रचना और सबसे अधिक विवादास्पद रचना चरित्रोपाख्यान है । चरित्रोपाख्यान एक विशाल कथा संग्रह है । कथाओं की कुल संख्या ४०० के लगभग है । विवाद का आधार कथा संख्या भी है । भाई मनीसिंह के ऐतिहासिक पत्र में इन कथाओं की संख्या ३०३ बताई गई है । विद्वानों का कहना है कि गुरु जी द्वारा संगृहीत कथाओं की संख्या तो ३०३ ही रही होगी वाद में दरबारी कवियों ने उनमें वृद्धि कर दी होगी । पंजाबी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० मोहनसिंह इस रचना को मध्यकालीन भारत में जानी जाने वाली सभी पंजाबी और गैर-पंजाबी, भारतीय और गैर भारतीय कथाओं का विश्वकोश कहते हैं ।

चरित्रोपाख्यान का कथानक सुदृढ़ नहीं माना जा सकता । कवि ने एक कथा के इर्द-गिर्द बाकी सभी कथाओं का तानाबाना बुनने का केन्द्रीय प्रयास किया है । केन्द्रीय कथा के अनुसार राजा चित्रसिंह के युवापुत्र हनुवंतसिंह के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर विमाता चित्रमती ने काम प्रस्ताव रखा । हनुवंतसिंह के ठुकराने पर विमाता ने राजा चित्रसिंह के सामने राजकुमार के चरित्र पर मिथ्या आरोप लगाया । राजा ने क्रुद्ध होकर राजकुमार को मृत्यु दण्ड दे दिया । परन्तु चतुर मन्त्री ने वास्तविकता जान ली और राजकुमार को बचाने के लिए राजा को प्रतिदिन त्रिया-चरित्र के सम्बन्ध में एक कहानी सुनाने लगा । यह मन्त्री-भूष संवाद लम्बे समय तक चलता रहा । परन्तु रचना में इस संवाद का परिणाम व अन्त नहीं दिखाया गया ।

डॉ० हरभजनसिंह ने संकलन की सभी कथाओं को चार वर्गों में रखा है :

१. प्रेम कथाएं, २. शौर्य कथाएं, ३. विनोद कथाएं, और ४. काम-कथाएं ।

चरित्रोपाख्यान का अन्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसमें महाकाल का दीर्घ दाढ़ से युद्ध-वर्णन है । यही वह प्रसंग है जो इस रचना को दशम ग्रन्थ की मूल चेतना के साथ सम्बन्धित करता है ।

“दशम ग्रन्थ के मूल स्वर की चर्चा इस प्रबन्ध में अनेक स्थानों पर की गई है । तत्कालीन पीड़ित, पराधीन और शक्तिहीन समाज को प्राचीन भारतीय ग्रन्थों, वीर प्रसंगों और ईश्वरीय शक्ति का आश्रय लेकर उसे संघर्ष के लिए सन्नद्ध करना दशम ग्रन्थ के रचयिता का मूल हेतु है । वीर भावों को जाग्रत करने के लिए काल और काली शक्ति के स्रोत गुरु गोविन्द सिंह के प्रिय दृष्ट हैं । ये दोनों ही शब्द भारतीय जन-मानस में अपने युद्धपूरक, संहारक, विकराल और शक्ति सम्पन्न स्वरूप के कारण

शताब्दियों से गहरे पैठे हुए थे। गुरु गोबिन्द सिंह ने इन्हीं शब्दों को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकार किया। परन्तु इस स्वीकृति में उनका एक वैशिष्ट्य भी है। उन्होंने काल और काली को सामान्य देवता या देवी के स्तर से बहुत ऊपर उठाकर उनमें अपनी कल्पना और अपनी आस्था के परब्रह्म का आरोप किया। यही वह वैशिष्ट्य है जो गुरु गोबिन्द सिंह को सर्वसामान्य देवपूजक स्थिति से पृथक् कर देता है।^{१११}

१०. चण्डी दी वार

गुरु गोबिन्दसिंह द्वारा पंजाबी में लिखित ५५ छन्दों की लघु रचना है। इसका कथानक लगभग चण्डी चरित्र 'प्रथम' का पंजाबी रूपान्तर मात्र ही है। परन्तु इसके मंगलाचरण का सिक्खों में बहुत महत्त्व है। इसमें प्रथम गुरु नानक देवजी से लेकर नवम् गुरु तेग बहादुरजी तक सभी गुरुओं का भक्ति-भाव से स्मरण किया गया है। उनसे दया, सहायता व अभयदान की याचना की गई है।

११. जफरनामा

जफरनामा गुरु जी का फारसी भाषा में लिखा वह पत्र है जो उन्होंने सन् १७०५ में दिल्ली के बादशाह औरंगजेब को प्रेषित किया था। जफरनामा का आधारभूत वीर रस है। इसमें औरंगजेब को चेतावनी दी गई है कि या तो तुम नेक रास्ते पर चलो नहीं तो तुम्हारा मानमर्दन करने वाला आ पहुँचा है। इसकी भाषा बलवती और गुण से सम्पन्न है। इसकी प्रत्येक द्विपदी कवि के अनन्त आत्मगौरव की वाहिका है।

संदर्भ

१. वाणी गुरु गोबिन्दसिंह : स० प्रेम प्रकाशसिंह, पृ० ३६
२. गुरु नानक और उनका काव्य : डॉ० महीपसिंह, पृ० १०३
३. उपनिषदों के समस्त उद्धरण, गीता प्रेस गोरखपुर के 'ईशादि नौ उपनिषद' में से लिये गये हैं।
४. 'कहूं आरबी तोरकी पारसी हो
कहूं पहलवी पुस्तको संस्कृति हो
कहूं देस आरुथा कहूं देव वानी
कहूं राजविद्या कहूं राजधानी ॥ अकाल स्तुति ॥
५. वाणी गुरु गोबिन्दसिंह : स० प्रेम प्रकाशसिंह, पृ० ४६
६. गुरु गोबिन्दसिंह का वीर काव्य : स० डॉ० जयभगवान गीयल, पृ० ५

७. गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीपसिंह, पृ० ११५
८. गुरु गोविन्दसिंह का वीर-काव्य : जयमगवान गोयल, पृष्ठ ५६
९. गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीपसिंह, पृ० १४७
१०. वही, पृ० १६६, १६८
११. वही, पृ० २१५-२१६

ब्रह्म का स्वरूप

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में गुरु नानक देव जी का ब्रह्म विषयक निम्न मूलमन्त्र अति प्रसिद्ध है।

१. ओंकार

सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु ।

अकाल मूरति अजूनी सैभंग गुरु प्रसादि ॥

इस मूलमन्त्र की व्याख्या डॉ० मोहनसिंह ने निम्न प्रकार से की है—

“वह एक है, शब्द अथवा वाणी है और इसी के द्वारा सृष्टि रचता है। वह सत्य है, नाम है। उसके अस्तित्व का वाचक केवल नाम है और वही सत्य है और शेष जितने नाम हैं, उसके गुणों के वाचक हैं। उसके प्रत्यक्ष गुण ये हैं— ‘वह कर्तार है, पुरियों का निर्माण करके उनके बीच निवास करने वाला है। महान् पौरुष और महान् शक्तियुक्त है। वह समस्त शक्तियों का स्वामी है।’—परमात्मा के निषेधात्मक गुण हैं— ‘वह भय से रहित है, वैर से रहित है, मृतिमान है, काल से रहित है, योनि के अन्तर्गत नहीं आता, त्रिपुरी से परे है।— इस प्रकार प्रत्यक्ष गुणों से प्रारम्भ करके फिर प्रत्यक्ष गुणों से अन्त करते हैं— ‘वह स्वयं भू है। वह प्राप्त होने वाला है और उसकी प्राप्ति गुरु की कृपा से होती है।”

गुरु गोविन्दसिंह सिक्ख मत के अन्तिम गुरु थे। उन्होंने अपने आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारों का आधार अपनी पूर्ववर्ती हिन्दू दर्शनधारा को ही बनाया।

ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करने वाली गुरु गोविन्दसिंह की दो रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं— जापु व अकाल उसतति। इन दोनों रचनाओं में गुरु जी ने अधिकतर ब्रह्म के लिए ‘अकाल पुरुष’ शब्द का प्रयोग किया है। अतः इस सम्पूर्ण विवेचन में हम ‘अकाल पुरुष’ शब्द का प्रयोग करेंगे। जापु में गुरु जी ने परमात्मा को ‘अकाल, कृपाल, अरूप, अनूप, अमेष, अनेख, अकाय, अजाय, अगंज, अमंज, अनाम, अठाम, अकर्म, अधर्म, अवाम, अजीत, अमीन, अवाह, अढाह, अतील, अनाद, अच्छेद, अगाध, उदार, अपार, एक, अनेक, अभूत, अनूप, निरभ्रम, निरदेश, निरमेष, निरकाम, निरधान, निरघात, अशोक, निरताप, अथाप, जिमान, निधान, अगाह त्रिवर्ग, प्रभोग, सुजोग अरंग, अमंग, जलासर, निरासर, अजात, अपात, अमजहव, अजव

आदेश, काल दिआल, सर्वरूप, सर्वभूष, सर्वणाम, सर्वधाप, सर्वकाल, सर्वपाल, सर्वगमन, सर्वभ्रमण, काल-काल, अमरशा, अजर, कर्तार, सर्वबंधा, अवंध, रहीम, करीम, राग, सुहाग, सर्वहरता, सर्वधाता, (२-२८ जापु) कहा है।

अकाल उसतति में अकाल पुरुष की इस भूमिका का ही विस्तार है। उसका विविध ढंगों से गुणगान किया गया है। अकाल पुरुष के स्वरूपों की अनेक छन्दों में स्तुतिपरक वन्दना की गई है। अकाल उसतति के प्रारम्भ में ही अकाल पुरुष का सर्व काल, सर्व लोह कहकर मंगलाचरण किया गया है—

अकाल पुरुष की रच्छा हमनें।

सर्व लोह दी रछिआ हमनें।

सर्व काल जी दी रछिआ हमनें।

सर्व लोह जी दी सदा रछिआ हमनें ॥

अकालपुरुष प्रणव, आदि, १ओंकार है। उसका जल-थल पृथ्वी-तल में प्रसार है। वह आदि पुरुष, अविगत, अविनाशी है। उसकी ज्योति का प्रकाश चौदह लोकों में फैला हुआ है।^१ वह अकाल पुरुष अदृश्य, अक्षम और वेशरहित है। न उसका रूप है न रेखा, न राग है, न रंग है। वह सभी से न्यारा है। वह अकाल आदि पुरुष, अद्वय, अविकारी है।^२ 'वह अकाल पुरुष, असीम है, वह अनाहत वाणी वाला है। उस अकाल पुरुष के चरणों में भवानी रहती है। ब्रह्मा और विष्णु ने भी उस अकाल का अन्त नहीं पाया है। चारों वेद उसे नेति-नेति कहकर हार गये हैं।'^३ उसकी न कोई माता है न पिता, न उसकी जाति है न पाति। वह एक वर्णवाला है, किसी में अनुरक्त नहीं है। सर्वज्योति के बीच समान रूप से सभी स्थानों पर वह पुरुष पहचाना जाता है।^४

अकाल उसतति में गुरु गोविन्द सिंह जी ने केवल अकाल पुरुष के निर्गुण स्वरूप का ही वर्णन नहीं किया है। बल्कि सगुण की भी वन्दना की है। वास्तव में अकाल पुरुष का विचार करते समय गुरु जी ब्रह्म को खण्ड-खण्ड करके नहीं देखते हैं बल्कि उसका समग्र रूप में विचार करते थे। पूर्वकालीन व सामयिक युग की समस्त प्रचलित धारणाओं को समेटकर गुरु जी का साहित्य विशाल नद के समान प्रवाहित हुआ है। इसीलिए गुरु जी कई स्थानों पर अकाल पुरुष को करीम-रहीम कहने से भी नहीं चूकते।

गुरु जी का अकाल पुरुष कहीं शस्त्रधारी और कहीं शास्त्रधारी है। कहीं केवल पवनधारी है और कहीं सद्गृहस्थ है। कहीं संस्कृतज्ञ है। कहीं श्वेत है, कहीं श्याम है। वह धर्मस्थानों में रहने वाला, सर्वत्र गमन करने वाला है। कहीं काम को समाप्त करने वाला यति भी है और काम में अन्धकामी भी है। वह सब स्थानों पर जाने योग्य है। कहीं तो वेद मर्यादाओं में चलने वाला है और कहीं उसका उल्लंघन करता है। कहीं तो वह अकाल पुरुष तीनों गुणों से परे निर्गुण है और कहीं सगुण स्वरूप को धारण करने वाला है।^५

यहां अकाल पुरुष को नार के निकेत, शारदा, भिवानी, मंगला, श्याम, धर्मधामी, यति, कामी, आदि कहकर सम्बोधित करना स्पष्ट ही उसके सगुण स्वरूप की ओर संकेत करता है।

“उस अकाल पुरुष का कोई शत्रु नहीं है कोई मित्र नहीं है। उसका जन्म नहीं होता, उसकी कोई जाति नहीं है। उसका कोई पुत्र नहीं है, भाई नहीं है, बंधु नहीं है। वह कर्म से परे है, भ्रम से परे है, धर्म ध्यान से परे है। उसका कोई स्नेही नहीं, कोई घर नहीं है।”^{१०}

“कालरूपी व्याल इस अकाल पुरुष का अंग नहीं काट सकता। उसका स्वरूप अक्षय है, अभंग है। वेद उसको नेति-नेति कहते हैं। कतेव उसको अलख रूप कहते हैं।”^{११}

अकाल पुरुष के इस स्वरूप को गहरे पैठकर जो चीन्हने में तो असमर्थ हैं लेकिन व्यर्थ के अन्ध-विश्वासों व आडम्बरो को ही धारण किये हुए हैं उनके गुरु गोबिन्दसिंह जी भीषण विरोधी हैं। इस्लाम सम्प्रदाय के अनुसार दिन में पांच बार नमाज पढ़ने वालों पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं—“शीतकाल में गीदड़ भी पांच बार पुकार लगाता है। हाथी व गदहा भी अनेक बार पुकार लगाता है। काशी में शरीर कटवाने से भला क्या हो सकता है? एक भावना के बिना ज्ञान स्वरूप अकाल को कैसे प्राप्त किया जा सकता है?”^{१२}

अकाल उसतति के सम्पूर्ण मन्थन में अकाल पुरुष के जिन भिन्न-भिन्न स्वरूपों का वर्णन आया है उनका अलग-अलग विवेचन आवश्यक है। अकाल पुरुष के दो स्वरूपों निर्गुण और सगुण को तो स्पष्टतया देखा जा सकता है। अकाल गुणों से परे भी है और गुणों वाला भी है। वास्तव में अकाल पुरुष का यह रूप है भी अपने आप में पूर्ण। यदि अकाल पुरुष को मात्र निर्गुण मान लिया जाए तो सम्पूर्ण चेतन जगत का आलम्बन कौन करता है? परन्तु उसे केवल सगुण भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस तरह सगुण से परे का जगत् किसका है? यह प्रश्न अधूरा रह जाता है। गुरु गोबिन्द सिंह जी ने अपने अकाल पुरुष में इन दोनों स्वरूपों का सम्मिलन करके अपनी सम-वयात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। कुल मिलाकर अकाल उसतति के आधार पर अकाल पुरुष के स्वरूप को निम्न ढंग से विभाजित किया जाता है—

- | | | |
|----------------|-----------|--------------------|
| १. निर्गुण | २. सगुण | ३. सरब लोह |
| ४. सरब काल | ५. ओंकार | ६. श्रीपति |
| ७. श्री भगवान् | ८. साहिब | ९. दिवैया |
| १०. हरि | ११. ज्ञान | १२. (क) मानस कीजात |

सबै एको पहिचानवो
(ख) देहरा मसीत सोइ।

१३. दुष्ट गंजन, शत्रु मंजन, परम पुरख प्रमाण,

१४. दीनन की प्रतिपाल ।^{१०}

१. निर्गुण :

गुरु गोविन्द सिंह जी अकाल स्तुति में इसे द्वैत भाग से रहित, अलक्ष्य, अगम्य और सब प्राणियों के अन्तर को जानने वाला मानते हैं। वह राग-विराग, रूप, रेखा, रंग आदि के भेदों से परे है। वह आदि पुरुष है और अविकारी है।^{११}

गुरु गोविन्द सिंह जी अकाल पुरुष के निर्गुण स्वरूप को प्रतिष्ठित करते हुए लिखते हैं—

वरण चिह्न जिह जात न पाता ।

सत्रमित्र जिह तात न माता ।

सब ते द्वार सभन ते नेरा ।

जल थल महीअल जाहि वसेरा ॥४॥

ब्रह्मा बिसन अन्तु नहीं पायो ।

नेत-नेत मुख चार बतायो ॥५॥

वह निराकार तो केवल तेजमात्र है। उसको अनुभूत किया जा सकता है, उसका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति असम्भव है। वह तो तेज पुंज मात्र है, उसके तेज से आँखें चौंधिया जाती हैं। उसको बुद्धि से बन्दी नहीं किया जा सकता बल्कि उसकी तरलता से हृदय को प्लावित किया जा सकता है। रोग, शोक, प्रशंसा, निन्दा का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में वह इन सभी सांसारिक भावों से परे की वस्तु है। वह प्रिय, पवित्र, पुनीत, प्रबल है —

अकाल है अपाल है ख्याल है अखण्ड है ।

न रोग है न सोग है न भेद है न भंड है ।

न अंग है न रंग है न संग है न साथ है ।

प्रिय है पवित्र है पुनीत है प्रमाथ है ॥७२॥

वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, द्वैत, द्रोह, काल, व्याल, आधि, व्याधि आदि सभी से दूर है। वह तो अमंज, अभ्रम, अमृत है ॥ १७४ अ० स्तुति ॥

वह निराकार और निर्गुण अकाल स्वरूप पारब्रह्म, आकार और गुणों से रहित होते हुए भी सृष्टि का नियन्ता है। वह कण-कण में विराजमान है। जल में, थल में, हृदय में, वन में, पहाड़ में, गुफा में, पृथ्वी में, आकाश में, जहाँ वहाँ सब जगह अकाल पुरुष का वास है। उसकी सर्वव्यापकता और निर्गुणता का वर्णन लघुतिराज छन्द में गुरु जी ने अत्यन्त भाव-प्रवणता से किया है। अ० स्तुति ५१-५४, ६६-६९

इस निर्गुण अकाल पुरुष का चित्रण शब्दों में हो ही नहीं सकता। अतः गुरु जी ने 'तुही तुही' का आश्रय लिया। जो भाव दृष्टिकोण से श्लाघ्य है।

२. सगुण :

सृष्टि के आदि से ही ब्रह्म के स्वरूप को लेकर भेद रहा है। ब्रह्म के दो रूप निर्गुण और सगुण माने जाते हैं। सिक्ख मत में अकाल पुरुष के निर्गुण स्वरूप को ही प्रमुखता दी गई है। ब्रह्म के स्वरूप के बारे में गुरु नानक देव जी लिखते हैं—

१ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैर अकाल मूरति
अजुनी सभें गुरु प्रसादि ।

सिक्ख मत परम्परा के अनुकूल ही गुरुगोविन्द सिंह जी भी अकाल पुरुष को निर्गुण स्वरूप ही स्वीकार करते हैं। स्थान-स्थान पर उन्होंने 'अलेखं, अभेखं, अजोती सरूपं, अछेदं, अछय, आदि, अद्वै, अविनासी, अखण्डे, प्रचण्डे, अदण्डे, असाधे' कहा है। परन्तु फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि गुरु जी ने सगुण स्वरूप का ध्यान किंचित मात्र भी नहीं किया। भाव विचार होकर वे अकाल पुरुष को दाता, दयालु, शत्रु-संहारक, सर्वपालक आदि भी कहते थे। लेकिन उनका सगुण सरूप भी निर्गुण स्वरूप के अन्तर्गत ही आ जाता है। ब्रह्म तो उनकी दृष्टि में एक ही अविनाशी व अव्यक्त पुरुष है। वे लिखते हैं—

एक हो सरूप सबै, एक हो बनाउ ॥८६॥

सगुण स्वरूप को स्वीकार करते हुए गुरु जी लिखते हैं—

कहूं त्रिगुणा अतीत कहूं सरगुन समेत हो ॥११॥

इससे आगे वे लिखते हैं—

कहूं जच्छ गन्धर्व उरग कहैं विद्याधर ।

कहूं भए किन्नर पिसाच कहूं प्रेत हो ।

कहूं हुई कै तुरका पुकारै वांग देत हो ।

कहूं कोक काव हुई कै पुराण पढ़त सत ।

कहूं कुरान को निदान जान लेत हो ।

कहूं वेद रीत कहूं तासिउ विपरीत ।

कहूं निर्गुण अतीत कहैं सुगुण समेत हो ॥१२॥

कहने का भाव यह है कि गुरु जी ने जहां-जहां अकाल के सगुण स्वरूप का वर्णन किया है उसके अन्त में स्पष्ट यह लिखा है कि अकाल पुरुष सगुण और निर्गुण के भगड़े से परे है। वह लिखते हैं कि कहीं तो वह देवताओं की सभा में विराजमान है अर्थात् वह देवरूप है। कहीं दानवों का अहंभाव है अर्थात् दानव रूप है। कहीं इन्द्र को पदवी देता है, कहीं उससे छीन लेता है। यहां विचार करने योग्य बात है कि

पहले तो गुरु जी अकाल को देवरूपी स्वीकार करते हैं और बाद में मुरपति इन्द्र से भी ऊंचा । कहीं वह कर्म-अकर्म के भगड़े में उलझा हुआ है । निरंकारवादी ब्रह्म को कर्म-अकर्म के झगड़े से दूर बताते हैं । यहां गुरु जी ने उसे कर्म-अकर्म के भगड़े में उलझा स्वीकार किया है । कहीं वह घर गृहस्थी में फंसा सदगृहस्थ है । यहां ब्रह्म का मानवीकरण किया गया है । अ० स्तुति १३ ॥

गुरु गोविन्दसिंह जी उस अकाल पुरुष को राजाओं का राजा, महादानी, प्राणों के बचाने वाला, दूध-पूत के देने वाला, रोग शोक को मिटाने वाला कहते हैं । अ० स्तुति १६ ॥

४. सरव लोह :

अकाल उसतति के प्रारम्भ में ही गुरु गोविन्द सिंह जी ने अकाल पुरुष के सरव लोह स्वरूप की वन्दना निम्न प्रकार से की है

अकाल पुरख की रच्छा हमनै ।

सर्व लोह की रछिआ हमनै ।

सवे काल जी दी रछिआ हमनै ।

सर्व लोह जी दी रछिआ हमनै ॥मंगलाचरण ॥

अकाल पुरुष का सरव लोह स्वरूप गुरु जी की अपनी मौलिक कल्पना है । सरव लोह स्वरूप ब्रह्म के उस रूप की ओर इंगित करता है जो सभी की रक्षा करता है । लोह के समान जो सुदृढ़ है । सांसारिक भव-बाधाओं से अकाल पुरुष का लोह स्वरूप ही रक्षा करता है । डॉ० तारण सिंह लिखते हैं—

‘प्रभु प्रेमी के लिए लोह की दीवार है जो उसकी रक्षा करती है । जब काम, क्रोध आदि शत्रु आक्रमण करते हैं तो सरव लोह स्वरूप ही सहायक होता है । सरव लोह । स्वरूप वह है जो झुक (वण्ड) नहीं ‘सकता’ अर्थात् सिद्धान्त पर दृढ़ रहता है और लाभ हानि के चिन्तन में पड़कर सिद्धान्ताभिमुख नहीं होता । सरव लोह रूप है जो उस समय भीषण चोट करने में भी समर्थ है जब सामने अन्याय हो रहा है और दूसरा कोई चारा न हो । ‘सरव लोह’ शस्त्र रूप है, चण्डी रूप है, इसी रूप में यह अवस्था उत्पन्न करती है—

पुत्र प्रतापन वाढ जैत धुनि पापन के बहु पुंज खपैने ।

साध समूह प्रसन्न फिर जग सत्र सभै अवलोक चपैने ॥२७॥

सरव लोह ही भगवती रूप है । यह ‘तिग’ है ।”^{१२}

सरव लोह के इसी शत्रु संहारक, भक्त के पालक स्वरूप का वर्णन करते हुए गुरु जी ने अकाल पुरुष को शस्त्रधारी, सिपाही बन कर शत्रु को मारने वाला, भूमि का भार उतारने वाला, महाभूर बनकर विरोधियों को मारने वाला, काल का भी काल, शत्रु के लिए मूल आदि कहा है—

- (क) कहूं शस्त्रधारी कहूं विद्या को विचारी ॥१०॥
- (ख) कतहूं सिपाही हुइकै साधत सिलाहत को ॥१५॥
- (ग) कहूं भूम भार को उतारत हों महाराज ॥१५॥
- (घ) कहूं महासुर हुइकै मारत भवासन को ॥१६॥
- (ङ) काल हूं के काल, सत्रन के सूल हो ॥१६॥

५. सरब काल :

गुरु गोविन्द सिंह ब्रह्म को काल स्वरूप स्वीकार करते हैं। वह कभी जन्मता मरता नहीं। सारा संसार उसी से पैदा हुआ है और उसी में समा जाँगा। अनेकों अवतार हुए, अनेक शस्त्रधारी हुए, चक्रवर्ती राजा हुए, अनन्त धन के स्वामी धनवान हुए, समस्त लोकों को जीतने वाले शूरवीर हुए, परन्तु काल की लपेट से कोई बच नहीं सका। काल सर्वशक्तिमान है। उसकी शक्ति की कोई सीमा नहीं। सारे ब्रह्माण्ड को वह एक ही पल में विनष्ट करने का सामर्थ्य रखता है। गुरु गोविन्द सिंह उसे काल रहित काल, अनकाल सरूपा, सबको काल सबन को करता, काल फास के बीच न आयो, कहते हैं काल ही कर्ता है, काल ही वेअन्त रूपों को बनाने बिगाड़ने वाला है।

केवल काल ही करतार ।

आदि अन्त अनन्ति मूरति गड़न भंजनहार ॥

गुरु गोविन्द सिंह के अकाल पुरुष के काल स्वरूप के बारे में डॉ० महीप सिंह लिखते हैं 'वैसे तो काल सभी कुछ है। वही बनाता है, वही बिगाड़ता है परन्तु काल शब्द का उच्चारण करते ही विनाश और मृत्यु का भयानक स्वरूप सम्मुख आ खड़ा होता है। गुरु गोविन्द सिंह को अपनी परिस्थिति के अनुसार ईश्वर के निर्माण और पोषण रूपों की इतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी विनाश करने वाले स्वरूप की। वे तो स्पष्टतः यह कहना चाहते थे कि जिस काल ने बड़े-बड़े देवताओं, दैत्यों, सम्राटों को क्षण भर में समाप्त कर दिया उसके सम्मुख कोई टिक सके, ऐसी शक्ति किस में है ? कदाचित् यह कहकर उन्होंने अपने युग की उस शक्ति-मदान्ध मुगल सत्ता की ओर संकेत किया, जिसकी विशाल शक्ति के सम्मुख काल का भरोसा लेकर ही वे जनता को तैयार कर रहे थे।'^{१३} उसी काल की सर्वशक्ति सम्पन्नता की ओर संकेत करते हुए गुरु जी कहते हैं—

एक शिव भए एक गए एक फर भए,

रामचन्द्र कृष्ण के अवतार भी अनेक हैं ।

ब्रह्मा अरु बिसन केते वेद और पुरान केते,

सिमृति समूहन के हुई हुई बितए है ।

मोनदीनदार केते अस्विनी कुमार केते,

अंसा अवितार केते काल बस भए हैं ॥७७॥

५. १ ओंकार :

गुरु गोविन्दसिंह जी अकाल पुरुष के १ ओंकार स्वरूप के उपासक थे। गुरु नानक देव ने भी अकाल पुरुष को १ ओंकार कह कर व्याख्या की थी। सृष्टि के इस सारे दृष्यमान स्वरूप के पीछे उस एक की सत्ता है। सारा ब्रह्मांड भिन्न होते हुए भी समान है। सम्पूर्ण जड़ चेतन के जितने भी रूप दिखाई देते हैं वास्तव में एक ही हैं। ऊपर मे चाहे जितने भी भेद उपभेद दिखाई दें लेकिन मूलभूत सत्ता एक ही है। हस्त कीट के बीच वह सत्ता समान रूप से प्रतिष्ठित है। ब्रह्म भेद आंतरिक एकता के सूचक हैं, आकारगत, रूप गत, रचना गत जितनी भी विभिन्नताएं हैं। वे केवल भौतिक जगत् तक ही सीमित हैं। सांसारिकता से थोड़ा ऊपर उठकर उस अनन्त प्रभु का १ ओंकार स्वरूप सर्वत्र प्रकाशमान है। गुरु गोविन्दसिंह जी लिखते हैं—

प्रणवो आदि एकंकारा।

जल थल महीअल कीओ पसारा।

आदि पुरख अविगत अविनासी।

लोक वतुंदस जीति प्रकासी ॥

वह १ ओंकार हाथी और चींटी में समान रूप से विराजमान है। स्थूलता का कोई भेद नहीं है। हाथी इतना विशालकाय प्राणी है लेकिन चींटी तुच्छ, क्षुद्र। परन्तु ओंकार सभी में समान रूप से है। वह राजा में भी है और निर्धन में भी। उसकी दृष्टि में अमीर-गरीब, राजा-रक, सभी समान हैं। वह सभी को एक दृष्टि से देखता है और एक समान समझता है। वह एक ओंकार स्वरूपमय अकाल पुरुष, द्रवभाव से रहित, अलक्ष्य, अविनाशी पुरुष है। वह प्रत्येक प्राणी के अन्तर को जानने वाला है। अर्थात् सब उसमें हैं और वह सबमें है—

हस्त कीट के बीच समाना।

राव रंग जिह इक सर जाना।

अद्व अलख पुरख अविगामी।

सब घट-घट के अन्तरजामी ॥२॥

एक अन्य स्थान पर गुरु गोविन्दसिंह जी ने उसे 'निरंकार, निर्विकार, नित्य, निरालंभे, वे निरंकार, निरविकार, त्रिलम्ब, आदि, अतीन, अनादि, असंभु' कहकर सम्बोधित किया है।

६. श्री पति :

डॉ० तारण सिंह 'श्री' को माया के सन्दर्भ में प्रयुक्त मानते हैं। वे लिखते हैं, 'प्रभु सारी माया को धारण करने वाला है, उसका स्वामी है; माया के प्रसाद व सांसारिक खेल का पति (स्वामी) है'।

गुरु जी लिखते हैं कि माया के बीच अवस्थित होकर भी उस से निर्लेप रह

कर सांसारिक बन्धनों से छूटा जा सकता है। श्री पति ही 'श्री' के बन्धन से छुड़ाने में समर्थ नहीं होगा तो और कौन होगा ? मानव, इन्द्र, गजीन्द्र, त्रिलोकी पर राज्य करने वाला वह श्रेष्ठ राजा, करोड़ों स्थान पर स्नान करने वाले, हाथियों का दान करने वाले, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, इन सभी का यम के फन्दे में फँसना अवश्यम्भावी है क्योंकि ये श्री का ध्यान करने हैं श्री पति का नहीं।^{१४}

वास्तव में गुरु गोविन्द सिंह जी ने संसार से दूर रहकर किसी वस्तु को भी नहीं साराहा। वे तो सन्त सिपाही थे। माया में रहकर भी माया से निर्लेप रहने वाले। उनका आचरण कमलवत् था जो कीचड़ से निर्लेप रहता है। इसीलिए गुरु जी ने अकाल पुरुष को श्री पति के रूप में देखा।

७. ८. श्री भगवान, साहिव :

भगवान का क्या अर्थ है ? मनुष्य स्वयं क्या है ? मिट्टी का तुच्छ खिलौना मात्र। ठोकर लगे तो टूट जाए। अकाल पुरुष की शक्ति से यह जीवन्तमान है। अकाल पुरुष के भाग्य निर्णायक स्वरूप को गुरु जी ने 'श्री भगवान' कहा है

इसके उपरान्त गुरु जी उस अकाल पुरुष को साहिव कहते हैं। साहिव क्या है ? डा० तारण सिंह साहिव का साम्य मैनेजर से उपस्थित करते हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड एक निश्चित योजना के अनुसार कार्य करता है। इसमें कहीं भी अवरोध उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य जन्मता है और जो जन्मता है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। दिन आता है और उस के बाद रात आती है। दिन रात का अन्तराल निश्चित रहता है। कभी ऐसा नहीं होता कि बहुत लम्बे समय तक रात्रि की कालिमा ही व्याप्त रहे और फिर दिवस का प्रकाश फैले। प्रतिदिन सूर्य उदय होता है अस्त होता है। रात्रि को आकाश का आंचल टिमटिमाते तारों से भर जाता है। अपने आप ऋतुएं आती हैं और चली जाती हैं। वर्षा ऋतु का समय अनन्त काल से निश्चित है और आगे भी रहेगा। नील आकाश मेघों से आच्छन्न हो जाता है और मूसलाधार वर्षा होती है। इस सारे व्यापार की योजना का सूत्रधार कौन है। वही अकाल पुरुष। और अकाल पुरुष के इसी सूत्रधार के स्वरूप को गुरु गोविन्द सिंह जी ने साहिव कहा है।

गुरु गोविन्द सिंह जी 'भगवान' की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं

(क) श्री भगवान की भई कृपा हूते एक रती बिन एक रती के ॥ २१ ॥

(ख) श्रीपति श्री भगवान भजे विनु अन्त कौ अन्त के धाम सिधारे ॥ २३ ॥

(ग) श्री भगवान भजे बिन भूपति एक रती दिन एक न लखै ॥ २४ ॥

(घ) श्रीपति श्री भगवान भजे बिन त्याग जहानु निदान चलेंगे ॥ २५ ॥

और 'साहिव' को सबसे ऊँचे आसन पर स्थापित करते हुए गुरु गोविन्द सिंह जी लिखते हैं—

वीर अपार बड़े बरिआर अविचारहि सार की धार भछैया ।
 तोरत देसमालिद मवासन भाते गजान के मान मलैया ॥
 गाढ़े गढ़ान के तोड़नहार सो वातन ही चरु चार लवैया ॥
 साहिबु श्री सब को सिर नायक जाचक अनेकसू एक दिवैया ॥२६॥

वह सहिव सभी के सिर पर है। सभी की रक्षा करता है। सृष्टि का व्यवस्थापक है। योजक है और सूत्रधार है।

६. दिवैया :

अभी मैंने गुरु गोविन्दसिंह जी का एक सर्वैया उद्धृत किया है उसमें एक अर्ध पंक्ति आती है

‘जाचक अनेक सू एक दिवैया’

जिसका भाव है कि इस सृष्टि में याचना करने वाले याचक तो अनन्त हैं लेकिन सब कुछ देने वाला दिवैया एक ही है। वह परम अविनाशी अकाल पुरुष। गुरुजी ने उसकी ‘दिवैया’ कहकर स्तुति की है।

वह ब्रह्म सभी को बनाने वाला है तो साथ ही नारी सृष्टि का पालन करने के लिए उसे देने वाला भी है। यह देना केवल क्षुधा निवारणार्थ अन्नादि तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि विश्व में मनुष्य के पास जो कुछ भी है, वह सब कुछ उस अकाल पुरुष का दिया हुआ है। ज्ञान भी उसी का है और अज्ञान भी उसी का है पाप भी उसी का है और पुण्य भी उसी का। गुरुगोविन्दसिंह जी उस अकाल पुरुष को महादानी महाराजाओं को दान देने वाला, इन्द्र को इन्द्रासन देने वाला, दूध-पूत का देने वाला कहते हैं।^{१५}

वह प्रकाल पुरुष सर्वदाता है और दाता होने के कारण सर्वपालक भी है, दीनों का बन्धु है। एक दृष्टि से सारी सृष्टि ही दीन है क्योंकि लेने के लिए प्रभु की ओर निहारती है। वह अन्न का देने वाला है और ज्ञान का देने वाला भी।^{१६}

सर्वदाता सर्व ज्ञाता सर्व को प्रतिपाल ।

दीनबन्धु दयाल मुआमी आदि देव अपाल ॥१६०॥

अन्न दाता ज्ञान दाता सर्व मान साहेन्द्र ॥

वेद व्यास करे कई दिन कोट इन्द्र उपेन्द्र ॥१६७॥

अकाल पुरुष के सभी स्वरूपों में से ‘दिवैया’ का स्वरूप जनमन के अधिक निकट है और ज्यादा यथार्थ व्यावहारिक है। क्योंकि उसके दूसरे स्वरूप तो योगियों, ज्ञानियों, तपस्वियों के चिन्तन के विषय हैं जबकि ‘दिवैया’ स्वरूप अनुभव का विषय है।

१०. हरि :

डॉ० तारणसिंह जीवन को प्रफुल्लित करने वाले स्वरूप को हरि कहते हैं। और अकाल

पुरुष का यह स्वरूप सब जगह विद्यमान है। जीवन को ऊर्ध्व विकासशील स्वीकार किया गया है। अतः उसके लिए हरि स्वरूपा अकाल पुरुष की कल्पना नितान्त आवश्यक है। विकास के बिना चेतन चेतन न रहकर जड़ हो जाएगा। सर्वदा प्रफुल्लित जीवन को ही विकासशील जीवन कहा जाता है।

अकाल पुरुष का हरि स्वरूप सर्वत्र विराजमान है। जल में, थल में, हृदय में, वन में, पहाड़ में गुफा में, पृथ्वी में, नभ में जहां-वहां, सभी स्थानों पर हरि ही हरि शोभायमान है :^{१९}

हरि की इस सर्वव्यापकता के बाद गुरु गोविन्दसिंह जी उसकी स्तुति करते हैं—

भजो हरी, थपो हरी, तपो हरी, जपो हरी ॥६२॥

११. ज्ञान—

अकाल पुरुष की प्राप्ति के लिए ज्ञान, कर्म, भक्ति तीन मार्ग सुझाये गए हैं। सिक्ख मत में चाहे अकाल के भक्तिमय स्वरूप का स्वर प्रखर है परन्तु उसके ज्ञानमय स्वरूप की भी उपेक्षा नहीं। गुरु गोविन्दसिंह जी तो उस तेज पुंज अकाल पुरुष को मानते ही ज्ञानस्वरूपा थे। स्थान-स्थान पर उन्होंने ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित की है। वे उसे ज्ञान जात^{१७} सर्वज्ञाता,^{१८} अनन्त तेज^{१९} पूर्ण प्रज्ञा^{२०} आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान के बिना सब व्यर्थ है। चाहे जितना मरणा अनसन्धान करो परन्तु ज्ञान के बिना अकाल पुरुष की समीपता के द्वारे में सोचना ही व्यर्थ है।

गुरु गोविन्दसिंह जी कहते हैं कि शूकर विष्टाहारी है, गज और गधा विभूतधारी है। शृगाल श्मशानवासी है उल्लू उदासी सम्प्रदाय से सम्बंधित है, मृग और तरु सदा मौन धारण किये रहते हैं, स्त्री से दूर रहने वाले, वीर्य को वश में करने वाले तो नपुंसक भी होते हैं और सदा नग्न रहने वाले वन्दर भी मिल जाते हैं लेकिन इन बाह्याचारों में कुछ सिद्धि नहीं मिलती। स्त्री मुख में रत, काम क्रोध में प्रवीण क्षुद्र प्राणी ज्ञान के बिना कैसे भय-बाधा पार कर सकता है।

गुरु जी लिखते हैं कि— 'उस अकाल पुरुष को प्राप्त करने के लिए अनेकों लोग विलाप करते-करते मर गए, अनेकों रोते-चीत्कार करते हुए समाप्त हो जाते हैं। अनेक लोग अकाल पुरुष की प्राप्ति के लिए जल समाधि लेते हैं। दूसरे अग्नि समाधि लेते हैं। अनेकों गंगा नदी पर रहने वाले ब्रह्म मिलन की आशा लगाये बैठे हैं अनेकों मक्का या मदीना के निवासी खुदा या अल्लाह की राह देख रहे हैं। अनेकों साधु उदासी सम्प्रदाय में दीक्षित होकर घूम रहे हैं। अनेकों लोग काशी के करबट से कटकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। दूसरे पृथ्वी में समाधि ले लेते हैं। अज्ञानी लोग अकाल पुरुष को प्राप्त करने के लिए फांसी पर चढ़ते हैं। हठयोगी अनेक प्रकार के कष्ट भेलते घूमते हैं। असंख्य इस अनन्त की खोज में गगन में उड़ते हैं दूसरे जल के गर्भ को मथते हैं। लेकिन ये सारे अज्ञानी ज्ञान के बिना अज्ञान की प्रचण्ड अग्नि में जल कर राख हो जाते हैं।' ^{२१}

वास्तव में गुरुजी के अनुसार ज्ञान से इतर अकाल पुरुष की कल्पना करना व्यर्थ है। ज्ञान ही तो अकाल पुरुष है। उस अकाल पुरुष के सभी स्वरूप ज्ञान में ही समाये हुए हैं। तभी तो गुरुजी कहते हैं—

ज्ञान के बिहीन काल फास के अधीन सदा ।

जुगन की चाकरी फिराए ई फिरत है ॥७६॥

कामना अधीन परिओ नाचन है नाचत सों ॥

ज्ञान के बिहीन कैसे ब्रह्म लोक पावई ॥८२॥

१२. (क) मानस की जात सबै एको पहिचानवो :

(ख) देहरा मसीत सोई :

मनुष्य में उस परमात्मा का अंश स्वीकार करने वाले भी मानव में नानाविध भेद-उपभेद की दीवार खड़ी करते हैं। ब्रह्म तो-एक^१ है और मनुष्य में उसी की ज्योति आत्मा प्रज्ज्वलित हो रही है। अतः सारे मनुष्य समान हैं। जाति-पाति, रूप-रंग वर्ण के भेदों से ऊपर सभी जीव ब्रह्म स्वरूप हैं। शंकराचार्य ने घोषणा की थी 'अहम् ब्रह्म अस्मि'। उसने मनुष्य को भी अकाल पुरुष का स्वरूप बताया था। चेतन, व्यक्तस्वरूप।

गुरु गोविन्द सिंह मानव जाति को, उस पारब्रह्म अव्यक्त अकाल पुरुष का ही व्यक्त स्वरूप स्वीकार करते हैं। अतः उन्हें मानव-मानव के बीच भेद-भाव की दीवारें सहन नहीं हैं। वे उद्घोषणा करते हैं। "मानस की जात सबै एको पहिचानवो ।"

'मानस की एक जात है' यह सत्य तो प्रख्यापित हो गया परन्तु धर्माचार्य तो मानस के बनाने वाले अकाल पुरुष को ही खंड-खंड करके देखने के आदी हैं। देव मन्दिर में देव की पूजा की जाती है, मस्जिद में अल्लाह को पुकारा जाता है, गिरजे में 'गोंड' से दुआएं मांगी जाती है और ऊपर से तुरा यह कि तीनों भगवानों को अलग-अलग सेज पर रखा जाता है। एक दूसरे की छाया से बचाकर। तीनों की एक दूसरे से सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की जाती है। वेद के सम्मुख कुरान को तुच्छ समझा जाता है और कुरान के संरक्षक पुराणों को कूड़ा मात्र मानने के लिए कटिबद्ध है।

यह सारी स्थिति गुरु गोविन्द सिंह जी के अब तक के सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। वे तो जीव तक को अकाल पुरुष का स्वरूप मानते थे। फिर अकाल पुरुषको लेकर यह भेद-भाव उन्हें कैसे स्वीकार हो सकता था। गुरुजी इस ब्रह्म को १ओंकार स्वीकार करने थे। मन्दिरों, मस्जिदों में उस अकाल पुरुष का मात्र नाम भिन्न लिया जाता है। मूल की दृष्टि से उसमें कोई अन्तर नहीं है। उसी प्रकार वेद, कुरान, आदि सभी में ज्ञान की वही ज्योति प्रकाशमान हो रही है। केवल भाषा का अन्तर है।

गुरुजी कहते हैं कि कोई मुंडित शिर संन्यासी बना हुआ है, कोई योगी वनकर योग साधना कर रहा है। कोई ब्रह्मचारी है, कोई यति है, कोई हिन्दू है, कोई तुरक है, कोई शीया मुसलमान है, कोई शफाई मुसलमान है। परन्तु मनुष्य की जाति एक है,

सभी मनुष्य समान हैं। कर्ता भी वही है, करीम (दयालु) भी वही है, राजक, रहीम (करुणामय) भी वही है। दूसरा कोई भेद नहीं है। उसका एक ही स्वरूप है और वह तो तेज पुंज के समान है जो भिन्नता से परे होता है।^{१२३}

आगे गुरुजी कहते हैं कि देव मन्दिर और मस्जिद एक ही वस्तु है। पूज और नमाज समान हैं। सारी मानव जाति एक ही है, ये भेदभाव तो उपरि भ्रम मात्र है। सुर, असुर, यक्ष, गन्धर्व, नरक, हिन्दू सभी अलग-अलग इसलिए दिखाई देते हैं क्योंकि इन पर अलग-अलग सम्प्रदायों का प्रभाव है। वास्तव में इनमें एक ही तत्त्व है। सभी के नयन, कान, देह, रचना एक समान है। सभी खाक (मिट्टी), वाद (वायु), आतश (अग्नि), आव (जल) का ही मिश्रण है। अल्लाह और ब्रह्मा एक समान हैं, पुराण और कुरान एक समान हैं। सभी का एक ही स्वरूप है, सभी को बनाने वाला एक है।

साम्प्रदायिक दृष्टि से परे हटकर मुगल सत्ता काल में उस योद्धा द्वारा अकाल पुरुष के एक स्वरूप के बारे में सोचना मन्दिर-मस्जिद को समान करार दे देना, कुरान पुराण को एक ही बताना, पूजा नमाज में अन्तर न समझना, प्रगतिशील चिन्तन का प्रतीक है।

१३. दुष्ट गंजन, शत्रु भंजन, परम पुरुष प्रमाण :

गुरु गोविन्द सिंह जी को अकाल पुरुष का दुष्ट गंजन, शत्रु भंजन रूप अत्यन्त प्रिय था। इसी स्वरूप की सार्थकता के लिए तो उन्होंने अपनी अत्यन्त विद्वत् रचना 'चौधवीं अवतार' की रचना की।

गुरु गोविन्द सिंह का अपना जीवन भी अधिकतर युद्ध क्षेत्र में ही बीता। सारी आयु उन्हें अधर्म से संघर्ष करना पड़ा। बचपन में ही अपने पिता का बलिदान उन्होंने देखा था और बाद में अपने चार पुत्रों को उन्हें स्वयं होम देना पड़ा। इन सभी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी ही था। अतः अकाल पुरुष का शान्त स्वरूप गुरु जी को कभी आकर्षित नहीं कर सका, स्तुति चहे उन्होंने उसकी भी की हो। वे तो अकाल पुरुष के उग्र रूप के पुजारी थे, जो युद्ध क्षेत्र में उनके साथ कन्धे से कन्धे मिलाकर लड़ गये। उन्होंने मंगलाचारण में भी अकाल पुरुष के सरव लोह स्वरूप ने रक्षा कहा है। कर्म क्षेत्र से भागकर शान्त तपोवन में बैठने वाला अकाल पुरुष का रूप उन्हें कभी नहीं सुहाया। तभी तो उन्होंने पारिवारिक बन्धनों से दूर, कर्म क्षेत्र से हट कर शान्त भावना करने वाले लक्ष्मण बैरागी को बन्दा बहदुर बना दिया। कर्म ही अकाल पुरुष है। गुरु जी अकाल पुरुष को शत्रु भंजन में सहायक स्वीकार करते थे। कुछ विद्वानों ने इसे अकाल पुरुष का पक्षपाती रूप कहकर चरितार्थ किया है। जैसे डॉ० महीपति सिंह अपने शोध प्रबन्ध 'गुरु गोविन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता' में अकाल पुरुष के इस रूप को 'पक्षपाती ईश्वर' लिखते हैं। परन्तु मेरी समझ में ऐसा मानना भूल होगी। यह सारी सृष्टि उस अनन्त प्रभु की माया

मात्र है। परन्तु उस अकाल पुरुष ने सभी चेतन प्राणियों को इतनी स्वतन्त्रता दी हुई है कि वह अपनी इच्छानुसार कर्म कर सकें। और जो लोग कर्म की वजाय कुकर्म करते हैं, उनको दण्ड देने के लिए गुरु गोविन्द सिंह जी ने अकाल पुरुष के 'दुष्ट गंजन, शत्रु मंजन, स्वरूप की कल्पना की है जो समसामयिक और यथार्थ ही है। समसामयिक मने इसलिए कहा कि गुरु गोविन्द सिंह जी का कार्य काल जैसा कि इतिहास साक्षी है मुगलों के अत्याचारों का काल रहा है। अतः ऐसी परिस्थितियों में स्वाभाविक है कि गुरु जी 'दुष्ट गंजन' रूप की कल्पना करते।^{२३}

गुरु गोविन्द सिंह जी अकाल पुरुष को 'प्रचण्ड, बली, क्षत्रियों को बनाने वाला, न डरने वाला, शत्रुओं को दुःख देने वाला, रिपु के लिए कांटे के समान, क्षत्री बनकर शत्रुओं को मारने वाला, विरोधियों को समाप्त करने वाला कहते हैं—

- (क) रच पावक पौण प्रचण्ड बली ॥१११॥
- (ख) जिह रची छत्री छत्र छित ॥१४५॥
- (ग) न व्रस्तं न ग्रस्तं समस्तं स रूपे ॥१२०॥
- (घ) विस्वपाल जगत काल दीन दयाल बैरी साल ॥७५॥
- (ङ) सत्रण के सूल हो कि मित्रन के प्राण हो ॥१६॥
- (च) कहूं महासूर हुइकें मागत मवासन कौ ॥१६॥
- (छ) कहूं छत्री हुइकें अरि मारत मरत हो ॥११॥

१४. दीनन के प्रति पाल :

अकाल पुरुष का एक दूसरा रूप भी है 'सर्व पालक'। उस रूप का वर्णन गुरु गोविन्द सिंह जी ने इस प्रकार किया है:

दीनन की प्रतिपाल करै
नित सन्त उबार गनीसन गौरै ।
पछ पसु नन नाग नराधप,
सरब समै सब को प्रतिपारै ॥
पोखत है जल में, थल में, पल में,
कल के नहीं करस बिचारै ।
दीन दयाल दया निधि दोशन
देखत है पर देत न हारै ॥२४३॥

अकाल उसतति तो उम अकाल पुरुष की स्तुति है, उसकी वन्दना है, उम का यशोगान है, उसके विभिन्न स्वरूपों के प्रति गुरु जी की आस्था का प्रमाण है। लेकिन एक बात अकाल उसतति के अध्ययन से अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि चाहे अकाल पुरुष का सरब लोह रूप हो चाहे सर्व काल चाहे दीनन के प्रतिपाल वाला रूप हो चाहे दुष्ट गंजन का रूप हो, चाहे मस्जिद का अल्लाह हो चाहे मन्दिर का भगवान हो, श्रीपति हो, श्री भगवान हो, श्री साहिब हो, गुरु जी की दृष्टि में ये केवल नाम है।

अन्यथा कुछ नहीं । वह पार ब्रह्म, अकाल पुरुष तो एक ही है—

परअं परा प्रज्ञा प्रकासी ।

अछेदं अछय आदि अद्वै अविनासी ।

न जातं न पातं न रूप न रंगे ।

नमो आद अभंगे नमो आद अभंगे ॥६५॥

संदर्भ

१. नानक वाणी : डॉ० जयराम मिश्र, पृष्ठ ४६ से उद्धृत ।
२. प्रणवो आदि एकंकारा, जल थल मही अल कीओ पसारा ।
आदि पुरुष अविगत अविनासी, लोक चतुर्दस जोति प्रकासी ॥
३. अलख रूप अदै अनभेखा, राग रंग जिह रूप न रेखा ।
चरण चिन्ह सबहूँ ते न्यारा, आदि पुरुष अद्वै अविकार ॥
४. अनहद रूप अनाहद वाँनी, चरन सरन जिह वसत भवानी ।
ब्रह्मा बिसन अन्तु नहीं पायो, नेत नेत मुख चार बताओ ॥
५. तात वात जिह जात न पाता, एक रंग काहूँ नहीं राता ।
सरब जोत के बीच समाना, सबहूँ सरब ठौर पहिचाना ॥
६. कहूँ शस्त्रधारी कहूँ विद्या को विचारी ।
कहूँ मास्त श्रहारी कहूँ नार के निकेत हो ।
कहूँ देव वाणी कहूँ शारदा भवानी ।
कहूँ मंगला भिड़ानी कहूँ श्याम कहूँ सेत हो ।
कहूँ धर्म धामी, कहूँ सर्व ठौर गामी ।
कहूँ जती कहूँ कामी कहूँ देत कहूँ लेत हो ।
कहूँ वेद रीत कहूँ ता सिउं विपरीत ।
कहूँ त्रिगुन अभीत कहूँ सुरगुन समेत हो ॥१४॥ अकाल उत्तरा- ।
७. जिह सत्र मित्र नहि जन्म जात ।
जिह पुत्र भ्रात नहीं मित्र मात
जिह कर्म भर्म नहीं धर्म ध्यान ।
जिह नेह गेह नहीं विओत वान ।
८. जिह काल व्याल कटिओ न अंग ।
अछय सरूप अखय समंग ।
जिह नेत नेत उचरन्त वेद ।
जिह अलख रूप कथत कतेव ॥
९. पंच वार गीदर पुकार करे सीतकाल ।
कुंजर और गदहा अनेकदा पुकारहीं ॥

वहा भयो जो पं कलवत्र लियो कासी बीच ।

चोर चीर चोरटा कुठारत सों भार ही ॥

गहा भयो फांसी डाट बूड़ियो डाड़ गंगधार ।

डार डार फास ठग मार मार डार ही ॥

डूवे नकंधार मूढ़ जान के बिना विचार ।

भावना बिहीन कैसे ज्ञान को विचार ही ॥

१०. दशमेश दर्पण : डॉ० तारणसिंह, पृष्ठ १३७ ।

११. अद्वै अलख पुरख अविगामी ।

सब घट-घट के अन्तरजामी ॥२॥

राग रंग जिह रूप न रेखा ।

आदि पुरुष अद्वै अविकारा ॥३॥

१२. दशमेश दर्पण : डॉ० तारण सिंह पृ १४४ ॥

१३. गुरु गोविन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता : डॉ० महीप सिंह, प्र २४९ ।

१४. अकाल उसतति २८ ॥

१५. अकाल उसतति ११, १३, १६, १८ ॥

१६. अकाल उसतति ५१, ५२, ५३ ॥

१७. अकाल उसतति १६७ ॥

१८. अकाल उसतति १६० ॥

१९. अकाल उसतति १७६ ॥

२०. अकाल उसतति ११५ ॥

२१. अकाल उसतति ८६ ॥

२२. अकाल उसतति ८५ ॥

२३. अकाल उसतति ६२, ६९, ६६ ।

सहायक ग्रन्थों की सूची

क्रम-सं०

पुस्तक

लेखक

हिन्दी

- | | | |
|-----|--------------------------------------------|------------------------------|
| १. | गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता | डॉ० महीपसिंह |
| २. | गुरु गोविन्दसिंह का काव्य | डॉ० जयभगवान गोयल |
| ३. | गुरु गोविन्दसिंह: विचार और चिन्तन | डॉ० जयभगवान गोयल |
| ४. | गुरु गोविन्दसिंह जी (जीवन वृत्तान्त) | प्रो० साहिब सिंह |
| ५. | दशम् ग्रन्थ की पौराणिक पृष्ठभूमि | डॉ० रत्नसिंह जग्गी |
| ६. | वाणी : गुरु गोविन्दसिंह | सं० प्रेम प्रकाश सिंह |
| ७. | भारतीय चिन्तन परम्परा | के० दामोदरन् |
| ८. | श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन | डॉ० जयराम मिश्र |
| ९. | संस्कृति के चार अध्याय | रामधारी सिंह दिनकर |
| १०. | नानक वाणी | डॉ० जयराम मिश्र |
| ११. | जिवा जी | जहुनाथ सरकार |
| १२. | रीति-काव्य की मूलिका | डॉ० नगेन्द्र |
| १३. | हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (पष्ठम भाग) | नागरी प्रचारिण सभा,
काशी। |
| १४. | ईशादि नौ उपनिषद् | गीता प्रेस गोरखपुर। |
| १५. | गुरु गोविन्दसिंह का काव्य | डॉ० प्रसिन्नी सहगल |
| १६. | गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य | डॉ० हरिभजन सिंह |
| १७. | उत्तर भारत की सन्त परम्परा | परशुराम चतुर्वेदी |
| १८. | बीर काव्य | डॉ० उदयनारायण त्रिवाड़ी |
| १९. | हिन्दी साहित्य का इतिहास | रामचन्द्र शुक्ल |
| २०. | हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास | डॉ० रामकुमार वर्मा |
| २१. | हिन्दी छन्द प्रकाश | श्री रघुनन्दन शास्त्री |

पंजाबी

२२. एक मूर्ति अनेक दर्शन

सं० प्रो० स० स० अमोल

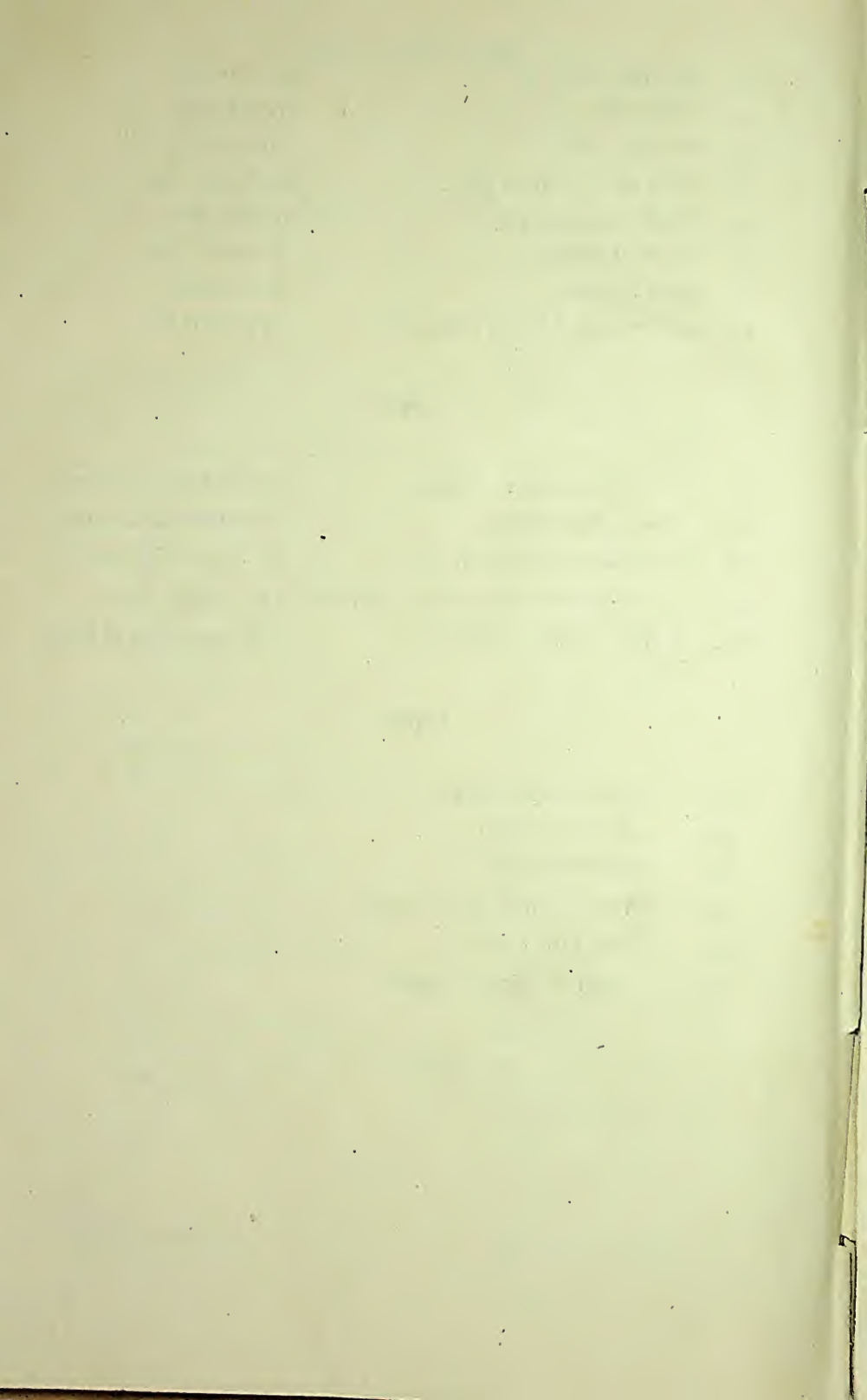
२३.	दशम ग्रन्थ : रूप ते रस	डॉ० तारणसिंह
२४.	दशमेश दर्पण	डॉ० तारणसिंह
२५.	कोश दशम ग्रन्थ	ज्ञानी लालसिंह
२६.	जीवन कथा गुरु गोबिन्द सिंह	प्रो० करतार सिंह
२७.	पंजाबी साहित्य का इतिहास	डॉ० गोपालसिंह
२८.	पंजाबी दा इतिहास	प्रो० सतधीर सिंह
२९.	सिक्ख इतिहास	प्रो० गंडा सिंह
३०.	दसवें पातशाह दे ग्रन्थ दा इतिहास	श्री रणधीर सिंह

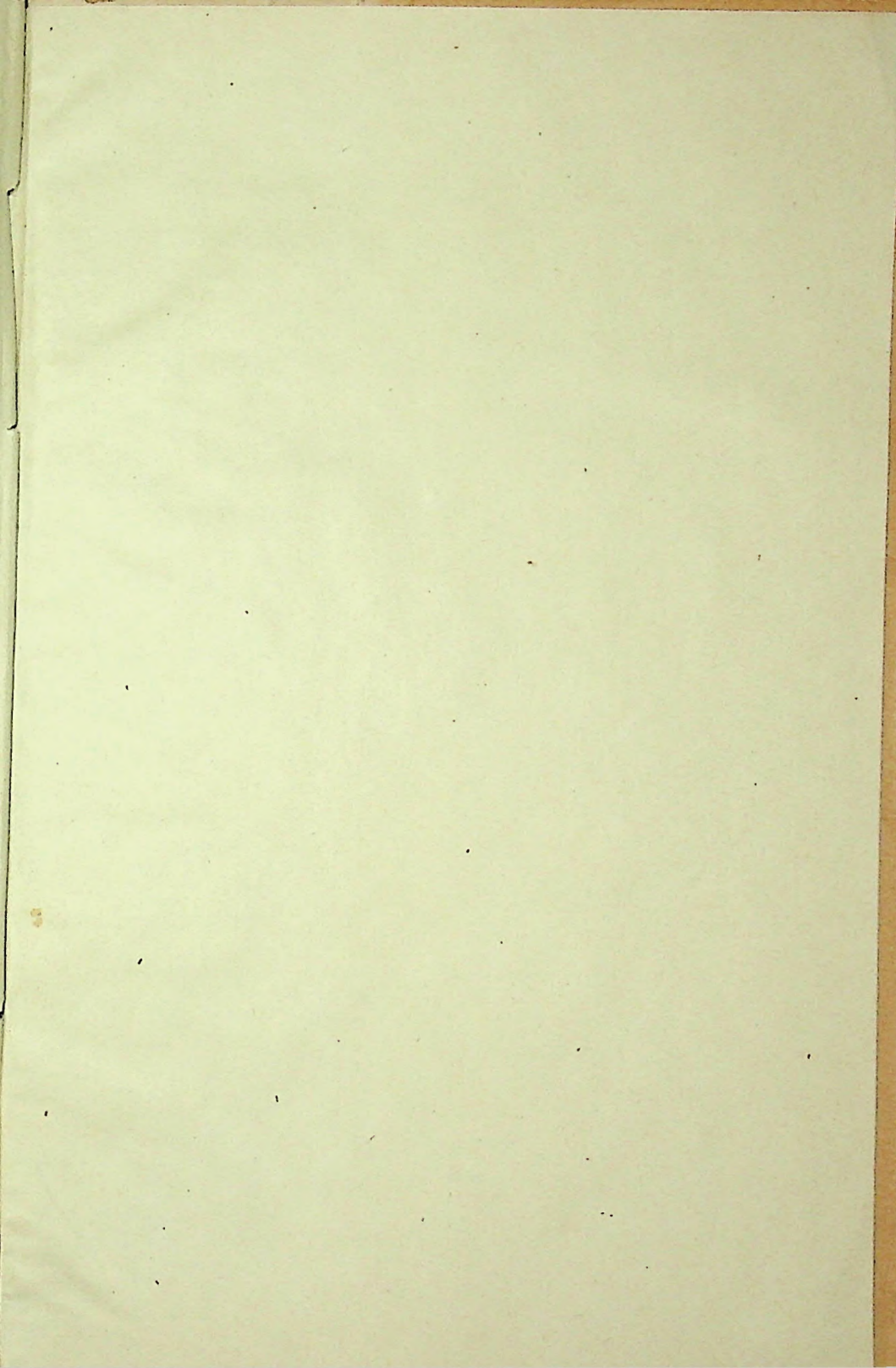
अंग्रेजी

३१.	Transformation of Sikhism.	Gokal Chand Narang.
३२.	Evolution of Khalsa.	Indu Bhushan Banerjee.
३३.	The Poetry of Dasham Granth.	Dr. Dharmpal Ashta.
३४.	An Introduction to Punjabi Literature.	Dr. Mohan Singh
३५.	A Short History of Sikhs.	Teja Singh Ganda Singh

पत्रिकाएं

(क)	गुरुमत प्रकाश (पंजाबी)
(ख)	शीशगंज (पंजाबी)
(ग)	पांचजन्य (हिन्दी)
(घ)	धर्मयुग (वैसाखी अंक) (हिन्दी)
(ङ)	सिक्ख रिव्यू (अंग्रेजी)
(च)	स्पोक्समैन (अंग्रेजी), दिल्ली।





डा० कुलदीप चन्द अग्निहोत्री

जन्म : २६ मई, १९५१ (मुकंदपुर—पंजाब)

शिक्षा : बी० एस० सी०, एम० ए० (हिन्दी, राजनीति शास्त्र), एल० एल० बी० : डिप्लोमा (तमिल अनुवाद, गांधी दर्शन) पी-एच० डी०

संप्रति : हिन्दी विभागाध्यक्ष, शिवालिक कालिज, नया नंगल—पंजाब

हिन्दी के बहुचर्चित व सशक्त हस्ताक्षर डा० अग्निहोत्री बहुआयामी शिक्षा संस्कारों से सम्पन्न ही नहीं प्रत्युत विदेशों में बहुभ्रमण कर अपने संस्कार को कथ्य की नयी दिशाएं दे चुके हैं। इससे उनके वचन में स्वच्छता, नवीनता और निर्भीकता आई है। इसका ज्वलन्त प्रमाण उनकी बहुचर्चित पंजाब की समसामयिक व साम्प्रदायिक नीति पर प्रखर प्रहार करने वाली पुस्तक “एक और जलियांवाला” है।

शोध में गुरुदत्त के उपन्यासों की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भूमिका, उनका क्षेत्र रही है और डी० लिट्० के लिए उन्होंने और भी व्यापक क्षेत्र ‘प्रवासी हिन्दी-साहित्य’ चुना है।

महत्वपूर्ण लेखन :

- एक और जलियांवाला
- गुरुगोबिन्दसिंह—व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- पंचनद में भारतीय जनसंघ
- भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में उपन्यासकार गुरुदत्त का कथा-साहित्य।

214